Table of Contents

परिचय 2

लेखक परिचय 2

भारत : अतीत एवं वर्तमान 3

क्यों आत्मविस्मृत हुए हम? 6

पश्चिम की विज्ञान-दृष्टि और अंधश्रद्धा 8

पश्चिम का विज्ञान : एक अस्पष्ट से दूसरे अस्पष्ट तक 11

क्या विज्ञान का जन्म पश्चिम में हुआ था? 15

भारत ने ही सोचा - मनुष्य जन्म ही क्यों? 17

भारत की श्रेष्ठतम देन है - एकात्म विज्ञान दृष्टि 21

भारत में तर्क व प्रयोगों के प्रति दृष्टि 24

विज्ञान : पश्चिम व भारतीय धारणा 27

कितना वैज्ञानिक है डार्विन का विकासवाद? 30

रसायन शास्त्र : धातु, आसव, तत्व - सब भारतीय सत्य 34

धातु विज्ञान का चमत्कार 37

प्राचीन भारत में रसायन की परंपरा - १ 42

प्राचीन भारत में रसायन की परम्परा-२ : आश्चर्यचकित करती हैं भारतीय भट्ठियां 44

प्राचीन भारत में रसायन की परम्परा - ३ : हमारे प्राचीन ज्ञान से समृद्ध होगा रसायन शास्त्र 48

अगस्त्य संहिता का विद्युत् शास्त्र 51

मैकेनिक्स (कायनेटिक्स) एवं यंत्र विज्ञान 53

विमान शास्त्र का भारतीय इतिहास-१ 57

विमानशास्त्र का भारतीय इतिहास-२ 61

नौका शास्त्र 65

वस्त्र उद्योग 69

भारत की विश्व को देन : गणित शास्त्र-१ 71

गणित शास्त्र-२ : जब विश्व १०,००० जानता था, तब भारत ने अनंत खोजा 73

गणित शास्त्र-३ : पाइथागोरस से पहले आर्यभट्ट, न्यूटन से पहले भास्कराचार्य 76

वैदिक गणित के सोलह सूत्र एवं उपसूत्र 79

कालगणना-१ : काल का खगोल से सम्बंध 80

कालगणना-२ पश्चिमी और भारतीय कालगणना का अंतर 84

कालगणना-३ : आदि से अंत तक जानने की अनूठी भारतीय विधि 88
सम्वत्सर की वैज्ञानिकता 91
खगोल विज्ञान-१ : न्यूटन से पहले भास्कराचार्य ने बताया था गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त 94
खगोल विज्ञान-२ : आर्यभट्ट ने खंगाला खगोल 97
स्थापत्य शास्त्र-१ : नगर रचना के श्रेष्ठतम उदाहरण 100
स्थापत्य शास्त्र-२ : अजंता, एलोरा, कोणार्क, खजुराहो - ये हैं भारतीय शिल्प की चमत्कारिक धरोहर 103
वृक्ष आयुर्वेद से मिला ज्ञान 107
वनस्पति विज्ञान-२ : भारत ने ही बताया- पौधों में जीवन है 111
कृषि में हमेशा ही अग्रणी रहा है भारत 116
प्राणि विज्ञान का गूढ़ ज्ञान 119
स्वास्थ्य विज्ञान -१ त्रिदोष का महत्व 123
स्वास्थ्य विज्ञान -२ : सर्जरी के सर्जक हम ही हैं! 127
ध्वनि तथा वाणी विज्ञान : सात सुरों का भारतीय संसार 131
ध्वनि शास्त्र पर आधारित भारतीय लिपि 135
प्राचीन भारत में वर्ण-मापन-विज्ञान (स्पेक्ट्रोस्कोपी) - १ 139
प्राचीन भारत में वर्णक्रम मापन - २ 146

परिचय

यह ब्लॉग प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत के वैज्ञानिक चिन्तन पर केन्द्रित है। इसमें विविध स्रोतों से एकत्र करके लेख प्रकाशित किये जायेंगे ताकि भारत की प्राचीन वैज्ञानिक संस्कृति की स्पष्ट झलक मिल सके।

लेखक परिचय

इस चिट्ठे के अधिकांश लेख **श्री सुरेश जी सोनी** द्वारा लिखे हैं जो हिन्दी साप्ताहिक पांचजन्य में छपे थे ।
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह सरकार्यवाह श्री सुरेश सोनी ने विज्ञान एवं दर्शन सम्मत विषयों का गहन अध्ययन किया है। देशभर में प्रवास के दौरान वे इन विषयों पर व्याख्यान देते हैं और श्रोताओं पर उसका गहरा प्रभाव होता है। यद्यपि श्री सोनी राजनीति शास्त्र के छात्र रहे हैं तथापि विज्ञान उनकी रुचि एवं लेखन का प्रिय क्षेत्र है। एक लेखक के रूप में

उनकी 'भारत-अतीत वर्तमान और भविष्य' तथा 'हमारी सांस्कृतिक विचारधारा के मूल स्रोत' पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। 'हमारी सांस्कृतिक विचारधारा के मूल स्रोत' पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का प्रकाशन पहले भी पाञ्चजन्य में किया गया है। श्री सोनी की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति है 'भारत में विज्ञान की उज्ज्वल परम्परा'। आधुनिक, विशेषकर पश्चिमी वैज्ञानिक पश्चिमी देशों को ही विज्ञान का जनक कहते और मानते आ रहे हैं। दुर्भाग्य से अपने ही देश के बौद्धिक संस्थान और प्रचार माध्यम भी इस दुष्प्रचार का हिस्सा बन गए और भारतीय इतिहास को ग्लानि एवं आत्मनिंदा की दृष्टि से देखने लगे। भारतीय वैज्ञानिक परम्परा, वैज्ञानिक दृष्टि और विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय ज्ञान को हमेशा नकारने की कोशिश की जाती रही है। श्री सोनी की यह पुस्तक इस नकारात्मक भाव से मुक्त करती है और विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय ज्ञान के स्वाभिमान को स्थापित करती है। श्री सोनी ने विद्युत शास्त्र, धातु विज्ञान, विमान शास्त्र, वस्त्र उद्योग, गणित शास्त्र, कालगणना, खगोल विज्ञान, स्थापत्य शास्त्र, रसायन विज्ञान, वनस्पति विज्ञान एवं प्राणि विज्ञान आदि-आदि में भारतीय ज्ञान की उज्ज्वल परम्परा को सहज व सरल भाषा में बड़ी सिद्धता से स्थापित किया है।

हाल ही में इस पुस्तक का तीसरा संस्करण अर्चना प्रकाशन (१७, दीनदयाल परिसर, ई/२, महावीर नगर, भोपाल ४६२०२६) ने प्रकाशित किया है। २०५ पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य है मात्र ६५ रुपए।

भारत : अतीत एवं वर्तमान

विश्व के रंगमंच पर अनेक देश हैं। इतिहास की गहराइयों में जाकर हम झांकते हैं तो जो दृश्य हमारे नेत्रों के सामने उभरता है वह यह कि भारत सदियों से विश्व में मानव जाति के लिए प्रेरणा का केन्द्र रहा है। हमारे पूर्वजों ने 'कृण्वन्तो विश्वम्आर्यम्' अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को श्रेष्ठ बनाएंगे और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' संपूर्ण वसुधा एक कुटुम्ब है तथा 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' तीनों लोक हमारे लिए स्वदेश हैं, की उदात्त भावना ले सम्पूर्ण विश्व में संचार किया तथा विश्व की सुख, समृद्धि हेतु कला, कौशल तथा दर्शन का अवदान दिया। इसी कारण भारत प्राचीन काल से जगद्गुरु कहलाता रहा, जिसकी झलक पाश्चात्य चिंतक मार्क ट्वेन के निम्न वक्तव्य में दिखाई देती है-

'भारत उपासना पंथों की भूमि, मानव जाति का पालना, भाषा की जन्मभूमि, इतिहास की माता, पुराणों की दादी एवं परंपरा की परदादी है। मनुष्य के इतिहास में जो भी मूल्यवान एवं सृजनशील सामग्री है, उसका भंडार अकेले भारत में है। यह ऐसी भूमि है जिसके दर्शन के लिए सब लालायित रहते हैं और एक बार उसकी हल्की सी झलक मिल जाए तो दुनिया के अन्य सारे दृश्यों के बदले में भी वे उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होंगे।'

इतिहास में भारत मात्र धर्म, दर्शन, तत्वज्ञान एवं श्रेष्ठ जीवन मूल्यों में ही नहीं अपितु व्यापार, व्यवसाय, कला, कौशल में भी अग्रणी था। एक प्रसिद्ध स्विस लेखक बेजोरन लेण्डस्ट्राम, जिसने पुरातन मिस्रियों से लेकर अमरीका की खोज तक ३००० वर्ष की साहसी यात्राओं और महान खोजकर्ताओं की गाथा का अध्ययन किया, अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में लिखता है, 'मार्ग और साधन कई थे, परंतु उद्देश्य सदा एक ही रहा-प्रसिद्ध भारत भूमि पर पहुंचने का, जो देश सोना,

चांदी, कीमती मणियों और रत्नों, मोहक खाद्यों, मसालों, कपड़ों से लबालब भरा पड़ा था।' (सोने की चिड़िया लुटेरे अंग्रेज-सुरेन्द्र नाथ गुप्त-पृष्ठ १०) बेजोरन लेण्डस्ट्राम से ही मिलते-जुलते अनुभव अनेक चिंतकों, शोधकों तथा हीगल, गैलवैनो, मार्कोपोलो आदि के हैं। इसी कारण सदियों से भारत को सोने की चिड़िया भी कहा जाता रहा है।

हजारों वर्षों तक जो देश जगद्गुरू व सोने की चिड़िया रहा, उस पर पिछले १५०० वर्षों में हुए बर्बर आक्रमणों, कुछ अपने सामाजिक दोषों तथा मुसलमानों के मजहबी आक्रमणों, लूट और अंग्रेजों के १९० वर्षों के शासन में आर्थिक दृष्टि से देश का इतना शोषण हुआ कि सोने की चिड़िया कंगाल हो गई। यहां के कृषि, उद्योग, व्यापार को नष्ट किया गया। इस कारण आज जब हम देखते हैं कि दुनिया के देशों की पंक्ति में भारत का कौन सा स्थान है, तो हम पाते हैं कि उसका १२४ वां स्थान है। दुनिया में भारत को फिर से जगद्गुरू और सोने की चिड़िया बनाने की चुनौती आज की पीढ़ी के सामने हैं। स्वाधीनता संग्राम के अनेक सेनानियों तथा चिंतकों ने भव्य भारत का जो स्वप्न देखा, उसे साकार करने का आह्वान आज की पीढ़ी के सामने है।

ऊपर उल्लिखित स्वप्न को साकार करना है तो आवश्यकता है कि देश के कला, कौशल, व्यापार, वाणिज्य, कृषि आदि सभी क्षेत्रों में पुन:प्रगति हो। सैद्धांतिक दृष्टि से धर्म, दर्शन के क्षेत्रों में देश की श्रेष्ठता आज भी विश्व को मान्य है। पर जहां भौतिक समृद्धि का प्रश्न आता है या तत्वज्ञान के अनुकूल समाज जीवन में व्यवहार का प्रश्न आता है, तो उत्तर देना कठिन हो जाता है। अत:सर्वांगीण उन्नति की परिकल्पना एवं उसके उपायों पर विचार करने की आवश्यकता है।

हजारों वर्ष पूर्व महर्षि कणाद ने सर्वांगीण उन्नति की व्याख्या करते हुए कहा था 'यतो भ्युदयनि:श्रेय स सिद्धि:स धर्म:' जिस माध्यम से अभ्युदय अर्थात् भौतिक दृष्टि से तथा नि:श्रेयस याने आध्यात्मिक दृष्टि से सभी प्रकार की उन्नति प्राप्त होती है, उसे धर्म कहते हैं।

दुर्भाग्य से विगत अनेक वर्षों से हमारे देश में धर्म, दर्शन, तत्वज्ञान द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति हेतु तो प्रयत्न चलते रहे, परंतु समग्र उन्नति की परिधि में भौतिक उन्नति के पक्ष की समाज जीवन में उपेक्षा हुई, जबकि भौतिक उन्नति सर्वांगीण विकास हेतु आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी मानी गई थी।

जब समाज में भौतिक दृष्टि से उन्नति का प्रश्न आता है और इसके माध्यम या साधनों पर हम विचार करते हैं तो ध्यान में आता है कि समय के प्रवाह में ये परिवर्तित होते रहे हैं। जैसे एक समय में हमारे देश में भौतिक समृद्धि का माध्यम था- कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य अर्थात् पारिवारिक और सामाजिक धरातल पर समृद्धि का आधार खेती और खेती के आधारभूत गौवंश तथा व्यापार थे। हजारों वर्षों तक ये ही समाज जीवन में समृद्धि के माध्यम रहे। सम्पूर्ण विश्व में भारत की कृषि व समृद्ध व्यवसाय की मान्यता थी। सम्पूर्ण विश्व में भारत का व्यवसाय फैला हुआ था। बहुत पुराने काल का वर्णन छोड़ भी दें तो अभी-अभी सन् १७५० तक विश्व में उत्पादन के मामलों में भारत की क्या स्थिति थी, इसका हम विचार करें तो सेम्युअल हंटिंग्टन द्वारा लिखित पुस्तक 'दी क्लैश आफ सिविलाइजेशन' में जो तुलनात्मक चार्ट दिया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि १७५० में भारत का उत्पादन समूचे यूरोप और सोवियत संघ (इसकी परिधि में टूटने के पूर्व के

सोवियत संघ तथा वारसा पेक्ट के सभी देश) से अधिक था। भारत का उत्पादन २४.५ प्रतिशत था, जबकि यूरोप का १८.२ प्रतिशत तथा सोवियत संघ का ५.० प्रतिशत था। (दी क्लैश आफ सिविलाइजेशन, सेम्युअल इंटिंग्टन, पृष्ठ, ८६)

विज्ञान का महत्व

समय के साथ परिवर्तन आता है। एक समय कृषि और व्यापार समृद्धि के मानक थे, परंतु आज विज्ञान के विकास के साथ उत्पादन के साधनों में परिवर्तन आया है। आज विज्ञान और तकनीकी भौतिक समृद्धि के साधनों के आविष्कार, उत्पादन तथा वितरण हेतु माध्यम बने हैं। आज जिस देश में विज्ञान जितना विकसित होगा, जिसके पास जितनी प्रगत एवं अद्यतन तकनीकी होगी, वह देश दुनिया के रंगमंच पर उतनी ही तीव्र गति से आगे बढ़ पायेगा।

इस परिप्रेक्ष्य में हमारा देश पुन: समृद्धि के शिखर पर पहुंचे और विश्व को अपना कुछ अवदान दे सके, इस दृष्टि से देश में जहां एक ओर वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास को गति देने की आवश्यकता है, वहीं दूसरी ओर यह भी ध्यान रखना होगा कि यह विकास अपनी संस्कृति, प्रकृति और आवश्यकता के विपरीत भी न हो। ये दोनों उद्देश्य प्राप्त हों, इस दृष्टि से कुछ प्रश्नों पर हमें विचार करना पड़ेगा।

१-विज्ञान और तकनीकी मात्र पश्चिम की देन है या भारत में भी इसकी कोई परंपरा थी?

२-भारत में किन-किन क्षेत्रों में वैज्ञानिक विकास हुआ था?

३-विज्ञान और तकनीकी के अंतिम उद्देश्य को लेकर क्या भारत में कोई विज्ञान दृष्टि थी? और यदि थी तो आज की विज्ञान दृष्टि से उसकी विशेषता क्या थी?

४-आज विश्व के सामने विज्ञान एवं तकनीक के विकास के साथ जो समस्याएं खड़ी हैं उनका समाधान क्या भारतीय विज्ञान दृष्टि में है?

आज का यथार्थ

भारत में विज्ञान के इतिहास को जानने के लिए जब हम प्रथम प्रश्न 'विज्ञान और तकनीकी मात्र पश्चिम की देन है या भारत में भी इसकी कोई परंपरा थी?' पर विचार करें तो जो आज का यथार्थ हमारे सामने आता है, उसे हम निम्नलिखित दो-तीन घटनाओं से समझ सकते हैं।

१-संस्कृत भारती नामक संगठन देश में संस्कृत के प्रचार-प्रसार और उसे जन भाषा बनाने की दृष्टि से विगत कुछ वर्षों से कार्य कर रहा है। इस संगठन ने संस्कृत मात्र धर्म-दर्शन ही नहीं अपितु विज्ञान तथा तकनीक की भी भाषा है, इसे लोगों को बताने की दृष्टि से गणित, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, नक्षत्र विज्ञान आदि के जो संदर्भ प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में उपलब्ध हैं, उनका आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से कैसा साम्य है, यह बताने वाले पांच भित्तिचित्र तैयार किये हैं। उसे प्रचारित-प्रसारित किया जाए, इस दृष्टि से भारत सरकार के विज्ञान और प्रौद्योगिकी मंत्रालय के प्रमुख अधिकारियों के

साथ वार्तालाप हेतु फरवरी २००१ में संस्कृत भारती के राष्ट्रीय संगठन मंत्री च.मू.कृष्णशास्त्री अपने साथ पांचों भित्तिचित्र लेकर गये। वार्तालाप के समय वे भित्तिचित्र अधिकारियों के देखने के लिए उनके सामने रखे गये।

उनमें गणित से संबंधित भित्तिचित्र के प्रारंभ में ही उन अधिकारियों ने देखा कि शताब्दियों पूर्व आर्यभट्ट ने (पाई) का मान ३.१४१६ निकाला था तो आश्चर्य के साथ उन्होंने उद्गार व्यक्त किये, 'अच्छा (पाई) का मान हमारे पूर्वजों ने इतने वर्ष पूर्व निकाल लिया था।' यह घटना इंगित करती है कि भारत वर्ष में विज्ञान के विकास की दिशा निर्धारित करने वाले व्यक्ति भारत वर्ष में विज्ञान की परंपरा की सामान्य जानकारी से भी अनभिज्ञ हैं।

क्यों आत्मविस्मृत हुए हम?

दूसरी थोड़ी पुरानी घटना है। पुरी के पूर्व शंकराचार्य भारती कृष्ण तीर्थ जी ने अपनी साधना द्वारा शुल्ब सूत्रों और वेद की पृष्ठभूमि से गणित के कुछ अद्भुत सूत्रों और उपसूत्रों का आविष्कार किया। इन १६ मुख्य सूत्रों और १३ उपसूत्रों के द्वारा सभी प्रकार की गणितीय गणनाएं, समस्याएं अत्यंत सरलता और शीघ्रता से हल की जा सकती हैं। इन सूत्रों के आधार पर उन्होंने एक पुस्तक लिखी 'वैदिक मैथेमेटिक्स।' पुस्तक के महत्व को ध्यान में रखते हुए मुम्बई में टाटा द्वारा मूलभूत शोध हेतु स्थापित संस्थान (टाटा इंस्टीट्यूट फार फन्डामेंटल रिसर्च) में कुछ लोग गये और वहां के प्रमुख से आग्रह किया कि गणित के क्षेत्र में यह एक मौलिक योगदान है, इसका परीक्षण किया जाये तथा इसे पुस्तकालय में रखा जाये। तब इस संस्थान ने इसे यह कहकर स्वीकृति नहीं दी कि हमारा इस पर विश्वास नहीं है। जिस पुस्तक को नकार दिया गया वह देश में विचार का विषय आगे चलकर तब बनी जब एक विदेशी गणितज्ञ निकोलस ने इंग्लैंड से मुम्बई आकर कुछ गणितज्ञों के सामने इन अद्भुत सूत्रों के प्रयोग बताकर कहा कि यह तो 'मैजिक' है। इसका प्रचार-प्रसार टाइम्स आफ इंडिया ने किया। यह घटना बताती है कि एक विदेशी इसका महत्व न बतलाता तो उसे मानने की हमारी मानसिकता नहीं थी।

३-एक तीसरी घटना-भूतपूर्व मानव संसाधन विकास तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मंत्री डा.मुरली मनोहर जोशी १९६२ में उत्तर प्रदेश की पाठ्यक्रम समिति के सदस्य बने। अपने अध्ययन के दौरान उनके ध्यान में आया कि गणित का विद्यार्थी जिस पायथागोरस थ्योरम के कारण भयभीत रहता है उस प्रमेय को पायथागोरस के पूर्व भारत वर्ष में बोधायन ने हल किया था। पायथागोरस की पद्धति जहां दीर्घ, क्लिष्ट व उबाऊ थी वहीं बोधायन की पद्धति अत्यंत संक्षिप्त व सरल थी। अत: उन्होंने पाठ्यक्रम समिति के सदस्यों को यह तथ्य बताया और आग्रह किया कि हमारे यहां इसे बोधायन प्रमेय कहा जाए तो इससे जहां एक ओर विद्यार्थियों को एक सरल पद्धति मिलेगी, वहीं दूसरी ओर हमारे देश का यह अवदान है, यह जानकर उनका आत्मविश्वास भी बढ़ेगा। लेकिन पाठ्यक्रम समिति के सदस्य तैयार नहीं हुए। लोगों को सहमत करने का वे प्रयत्न करते रहे। इसी कड़ी में एक और तथ्य उनके ध्यान में आया। एडवर्ड टेलर, जो विश्व के एक प्रमुख भौतिक शास्त्री रहे तथा हाइड्रोजन बम, परमाणु बम बनाने में जिनका योगदान रहा और जो नोबल पुरस्कार से सम्मानित हुए, ने एक पुस्तक लिखी है 'सिम्पलिसिटी एंड साइंस'। इस पुस्तक में उन्होंने कहा कि विज्ञान की पढ़ाई, दुरूह, जटिल व उबाऊ नहीं होनी चाहिए अपितु सरल, सुगम व आनंद देने वाली होनी चाहिए। इस दृष्टि से गणितीय समस्याएं कितनी

सरलता से हल हो सकती हैं, उसके उदाहरण के रूप में उन्होंने बोधायन प्रमेय का उदाहरण दिया था। डा.जोशी ने जब एडवर्ड टेलर के प्रमाण को पाठ्यक्रम समिति को बताया, तब उन्होंने कहा अच्छा आपका इतना आग्रह है तो हम इसे 'पायथागोरस बोधायन प्रमेय' कर देते हैं।

उपर्युक्त घटनाएं बताती हैं कि साधारणत: समाज में भारत में विज्ञान के विकास की कोई परंपरा थी, इस संबंध में विश्वास ही नहीं है। एक अन्य तथ्य भी अनुभव में आता है कि देश में प्राथमिक शाला से लेकर स्नातक, स्नातकोत्तर अथवा शोध छात्रों से कहीं भी चर्चा हो और उनसे प्रश्न किया जाए कि आपने प्रारंभ से अब तक जो अध्ययन किया है, उसमें आपके अध्ययन का विषय चाहे राजनीति शास्त्र रहा हो या अर्थशास्त्र या विज्ञान के विविध विषय-उन विषयों में भारत वर्ष के चिंतन अथवा अवदान के संदर्भ में कहीं कुछ पढ़ा है, तो साधारणत: उत्तर नकारात्मक मिलता है। इस प्रकार सामान्य विद्यार्थी से लेकर देश के प्रमुख व्यक्तियों तक में अपने देश की विज्ञान परंपरा और उसके जनक के संदर्भ में जानकारी का अभाव दिखाई देता है।

विस्मृति का कारण

भारत वर्ष की आने वाली पीढ़ी में अपनी परंपरा, संस्कृति और इतिहास के प्रति गौरव का भाव न रहे, इस हेतु १८३५ में लार्ड थॉमस बॉबिंग्टन मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति लागू की। धीरे-धीरे संस्कृत पाठशालाएं समाप्त कर अंग्रेजी स्कूल अनिवार्य हुए। इन स्कूलों के लिए जो पाठ्यक्रम बना, जो पुस्तकें बनीं, उनमें किसी भी विषय में, विशेषकर विज्ञान के क्षेत्र में भारत का कोई अवदान है, इस प्रकार का संदर्भ नहीं आने दिया गया। परिणामस्वरूप कालांतर में इन विद्यालयों से पढ़कर निकले उपाधि-धारी भारत के अवदान की जानकारी से वंचित रहते थे।

अंग्रेजों का तो साम्राज्यवादी उद्देश्य था, अत: उन्होंने शिक्षा को यहां की जड़ों से काटने का प्रयत्न किया। परंतु देश आजाद होने के बाद कल्पना थी कि देश में आत्मविश्वास का भाव जगाने हेतु शिक्षा में भारत की परंपरागत देन को जोड़ा जायेगा, परंतु दुर्भाग्य से स्वतंत्रता के बाद भी वही पाठ्यक्रम जारी रहे जो विश्व में यूरोपीय देशों की देन को अभिव्यक्त करने वाले थे। परिणामस्वरूप पूर्वकाल में भारतवर्ष में विविध विषयों में हुए अध्ययन, प्रयोग और निष्कर्ष १७० वर्षों से चली आ रही इस शिक्षा का अंग नहीं बन पाये। भारतीयता से कटे इस पाठ्यक्रम को पढ़ते हुए समाज के मानस पर एक दुष्परिणाम हुआ। दुनिया में विकास की दृष्टि से जो कुछ भी देन है वह यूरोप की दी हुई है, इसमें हमारा भी कोई योगदान रहा है, कुछ हो सकता है, इस प्रकार के स्वाभिमान के स्थान पर अनुकरण की, दासता की मनोवृत्ति चारों ओर दिखाई देती है।

विस्मृति का परिणाम

समाज में अपने बारे में आत्मविश्वास के अभाव की स्थिति जानने के लिए वर्तमान राष्ट्रपति एवं प्रख्यात वैज्ञानिक डा.अब्दुल कलाम के दो अनुभव सहायक होंगे। डा.कलाम की आंखों में एक समर्थ एवं विकसित भारत का सपना है। इसे उन्होंने अपनी पुस्तक 'इंडिया टू थाउसैण्ड ट्वेन्टी- ए विजन फार न्यू मिलेनियम' में व्यक्त किया है। प्रस्तुत पुस्तक में जहां एक ओर विकसित भारत के निर्माण के मार्ग का वर्णन है वहीं दूसरी ओर इसमें सबसे बड़ी बाधा कौन सी है, इसे भी

उन्होंने अपने जीवन के दो अनुभवों से अभिव्यक्त किया है।

प्रथम अनुभव में वे लिखते हैं कि 'मेरे कमरे की दीवार पर एक बहुरंगी कैलेंडर टंगा है। यह सुंदर कैलेंडर जर्मनी में छपा है तथा इसमें आकाशस्थ उपग्रहों द्वारा यूरोप और अफ्रीका के खींचे गये चित्र अंकित हैं। कोई भी व्यक्ति इन चित्रों को देखता है तो प्रभावित होता है। परंतु जब उसे यह बताया जाता है कि जो चित्र इसमें छपे हैं, वे भारतीय दूरसंवेदी उपग्रह ने खींचे हैं तो उसके चेहरे पर अविश्वास के भाव उभरते हैं और वे तब तक शांत नहीं होते जब तक उस कैलेंडर में नीचे उक्त कंपनी द्वारा भारतीय दूरसंवेदी उपग्रह द्वारा खींचे गये चित्रों की प्राप्ति का कृतज्ञता ज्ञापन वे नहीं पढ़ लेते।'

दूसरे अनुभव में वे लिखते हैं 'एक बार मैं एक रात्रिभोज में आमंत्रित था, जहां बाहर के अनेक वैज्ञानिक तथा भारत के कुछ प्रमुख लोग आमंत्रित थे। वहां चर्चा चलते-चलते राकेट की तकनीक के विषय पर चली गई। किसी ने कहा चीनी लोगों ने हजार वर्ष पूर्व बारूद की खोज की, बाद में तेरहवीं सदी में इस बारूद की सहायता से अग्नि तीरों का प्रयोग युद्धों में प्रारंभ हुआ। इस चर्चा में भाग लेते हुए मैंने अपना एक अनुभव बताया कि कुछ समय पूर्व मैं इंग्लैण्ड गया था, वहां लंदन के पास वुलीच नामक स्थान पर रोटुंडा नाम का संग्रहालय है। इस संग्रहालय में टीपू के श्रीरंगपट्टनम् में अंग्रेजों के साथ हुए युद्ध में टीपू सुल्तान की सेना द्वारा प्रयुक्त राकेट देखे और यह विश्व में राकेट का युद्ध में सर्वप्रथम प्रयोग था। मेरे इतना कहते ही एक प्रमुख भारतीय ने तुरंत टिप्पणी की कि वह तकनीक फ्रेंच लोगों ने टीपू को दी थी। इस पर मैंने नम्रतापूर्वक उनको कहा आप जो कह रहे हैं वह ठीक नहीं है। मैं आपको प्रमाण बताऊंगा। कुछ समय बाद मैंने उन्हें प्रख्यात ब्रिटिश वैज्ञानिक सर बर्नाड लॉवेल की पुस्तक 'द ओरिजिन्स एन्ड इन्टरनल इकानामिक्स आफ स्पेश एक्सप्लोरेशन' बताई, जिसमें वे लिखते हैं कि विलियम कोनग्रेव्ह ने टीपू की सेना द्वारा प्रयुक्त रॉकेट का अध्ययन किया, उसमें कुछ सुधार कर सन् १८०५ में तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री विलियम पिट तथा युद्ध सचिव क्रेसर लीध के सामने प्रस्तुत किया। वे इसे देखकर प्रभावित हुए और उन्होंने इसे सेना में सम्मिलित करने की स्वीकृति दी तथा १८०६ में नेपोलियन के साथ वाउलांग हारबर के पास हुए युद्ध तथा १८०७ में कोपेनहेगन पर किये आक्रमण में उनका प्रयोग किया।

पुस्तक में रेखांकित अंश को बड़े ध्यानपूर्वक पढ़कर वह पुस्तक मेरे हाथ में देते हुए उन विशिष्ट भारतीय सज्जन ने कहा कि बड़ा रोचक मामला है। उन्हें यह रोचक बात लगी, परंतु किसी प्रकार का गौरव का भाव इस भारतीय खोज के प्रति नहीं जगा। दुर्भाग्य से भारत में हम अपने श्रेष्ठतम सृजनात्मक पुरूषों को भूल चुके हैं। ब्रिटिश लोग कोनग्रेव्ह के बारे में सारी जानकारी रखते हैं, पर हम कुछ नहीं जानते उन महान इंजीनियरों के बारे में, जिन्होंने टीपू की सेना के लिए रॉकेट बनाया। इसका कारण यह है कि विदेशियत का प्रभाव और अपने बारे में हीनता बोध की मानसिक ग्रंथि से देश के बुद्धिमान लोग ग्रस्त हैं और यह मानसिकता देश के लिए सबसे बड़ी बाधा है।

पश्चिम की विज्ञान-दृष्टि और अंधश्रद्धा

पराभूत मानसिकता के कारण ही यह विश्वास देश में उत्पन्न नहीं हो पा रहा है कि हमारी अपनी वैज्ञानिक तथा तकनीकी

विकास की कोई परंपरा रही है। हम अपनी प्रतिभा से नूतन आविष्कार करके अपने देश को विकसित देशों की पंक्ति में खड़ा कर सकते हैं, इतना ही नहीं अपितु विश्व को भी कुछ अवदान दे सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप पश्चिम की तकनीकी और धन के सहारे ही देश का विकास होगा- इस मोहजाल में फंसे और कर्ज में डूबे हुए, प्रत्येक तकनीकी हेतु विदेश की ओर देखने वाले देश का चित्र बना है। इस चित्र को बदलना है तो हीनताबोध की ग्रंथि से मुक्त होना होगा। दूसरे के सहारे कोई महान नहीं बनता। प्रख्यात वैज्ञानिक सर सी.वी.रमन ने सन् १९४९ में प्रयाग में एक विज्ञान महाविद्यालय के दीक्षांत भाषण में विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए जो कहा था, उन वाक्यों पर आज देश में हर एक व्यक्ति को विचार करने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा- 'छात्रों , जब हम कहीं से आयात करते हैं तब हम न केवल अपने अज्ञान की कीमत चुकाते हैं अपितु हम अपनी अक्षमता की भी कीमत चुकाते हैं।' (भारत वर्ष में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की स्थिति, डा। मुरली मनोहर जोशी, पृष्ठ ८)

इसी के साथ देश में स्वाभिमान जगाने हेतु प्रख्यात वैज्ञानिक आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय का मद्रास में हिन्दू रसायन शास्त्र पर सन् १९१८ में दिया गया एक भाषण विचारणीय है, जिसमें उन्होंने अपने देश के अवदान के बारे में गौरव बोध का आह्वान किया था। उनके शब्द थे - "रसायन शास्त्र में हमारा प्राचीन भूतकालीन योगदान लज्जा का विषय नहीं था। प्राचीन भारत में विकसित विज्ञान की सभी शाखाओं के बारे में मेरा अंतरंग लज्जानत नहीं अपितु गर्वोन्नत है।"

आज देश में अपने बारे में, अपनी परंपराओं और देश की क्षमता के बारे में विद्यमान मानसिकता में परिवर्तन लाने हेतु कुछ मूलभूत बातों का विचार करना पड़ेगा। सर्वप्रथम तो हमारे देश में एक धारणा बनी हुई है कि पश्चिम का व्यक्ति बुद्धिजीवी, तर्कशील तथा प्रयोगशील होता है और भारत का व्यक्ति ग्रंथ को ही प्रमाण मानने वाला, अंधश्रद्धालु तथा प्रयोग से दूर भागने वाला होता है। परंतु वास्तविक स्थिति क्या है, आइये हम थोड़ा पश्चिम तथा भारत के इतिहास पर एक नजर डालें।

पश्चिम में तर्क तथा प्रयोगों के प्रति दृष्टि

पश्चिम में प्रायोगिक विज्ञान का प्रारंभ साधारणत: ४५० वर्ष पूर्व गैलीलियो से माना जाता है। उसके पूर्व कोपरनिकस ने यह वैज्ञानिक मान्यता स्थापित की थी कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके आसपास चक्कर लगाती है। परंतु उस समय साधारण समाज की धारणा, मानसिकता कैसी थी, इसका विश्लेषण करते हैं तो ध्यान में आता है कि उस समय जीवन के किसी भी प्रश्न के उत्तर के संदर्भ में अरस्तू प्रमाण था। कोई भी प्रश्न, कोई भी समस्या खड़ी हुई तो इस संदर्भ में अरस्तू ने क्या कहा, यह खोजने की एक सामान्य प्रवृत्ति थी। इस बारे में एक मनोरंजक कथानक प्रचलित है। एक बार लंदन में किसी हाल में बैठकर कुछ-विद्वान परस्पर विचार-विमर्श कर रहे थे। विचार-विमर्श का विषय था, घोड़े के मुंह में कितने दांत होते हैं? अलग-अलग विद्वान अलग-अलग संख्या बता रहे थे। परिणामस्वरूप निर्णय नहीं हो पा रहा था। एक युवक पास में बैठा इनका वार्तालाप उत्सुकता से सुन रहा था। इतने में एक विद्वान बोला- अंतिम निर्णय के लिए देखा जाये कि घोड़े के दांत के विषय में अरस्तू ने क्या कहा है? अत: एक विद्वान पास के पुस्तकालय में अरस्तू की पुस्तक खोजने गया। इस बीच यह चर्चा सुनने वाला युवक उठा और उस हाल से बाहर चला गया। वह बाहर चला गया है इस

ओर किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। परन्तु कुछ समय बाद लौटकर जब वह वापस हाल में आया तो हठात् सब उसकी ओर देखने लगे, क्योंकि वापस आते समय उसके साथ एक जीवित घोड़ा था। उस घोड़े को सामने खड़ा कर उसने विद्वानों से कहा कि अरस्तू को क्यों परेशान करते हो, यह घोड़ा खड़ा है, इसके दांत गिनकर निर्णय कर लो। (परिवर्तनशील समाज के लिए शाश्वत मूल्य, स्वामी रंगनाथानंद, पृष्ठ १९४)

गैलीलियो के पहले सारे यूरोप में मान्यता थी कि भारी वजन वाली वस्तु हल्की वजन वाली वस्तु से अधिक वेग से गिरेगी, क्योंकि अरस्तू ने कहा था कि एक पौंड तथा दस पौंड का पत्थर यदि ऊपर से फेंका जाये तो दस पौंड का पत्थर दस गुना वेग से गिरेगा। गैलीलियो ने इस मान्यता को चुनौती दी और कहा वस्तु चाहे एक पौंड की हो या दस पौंड की वायु का प्रतिरोध यदि छोड़ दिया जाये तो दोनों एक साथ जमीन पर गिरेंगी। जैसे ही गैलीलियो ने इस मान्यता का प्रतिपादन किया, सारा शहर उस पर टूट पड़ा- तुम अरस्तू से अधिक समझदार समझते हो अपने को? इस पर गैलीलियो ने कहा, जो मैंने कहा वह करके बता सकता हूं। इसे सुन सब लोगों में आश्चर्य और उत्सुकता जगी और जिस दिन गैलीलियो अपनी बात को प्रयोग द्वारा सिद्ध करने वाला था, उस दिन पीसा की प्रसिद्ध मीनार के पास सारा नगर उमड़ पड़ा। गैलीलियो मीनार पर चढ़ा, सारे लोग सांस रोके ऊपर देखने लगे। इसी समय गैलीलियो ने एक और दस पौंड वजन के दोनों पत्थर एक साथ छोड़े और आश्चर्यचकित लोगों ने देखा- दोनों पत्थर एक साथ जमीन पर गिरे। प्रत्यक्ष अपनी आंखों से यह प्रयोग देखने के बाद भी लोगों की प्रतिक्रिया थी, गैलीलियो जरूर काला जादू जानता है, अन्यथा अरस्तू कभी गलत हो सकते हैं क्या? यह घटना बताती है कि आज से ४५० वर्ष पूर्व यूरोप में कैसी मानसिकता थी?

अंग्रेज स्वयं को बड़ा बुद्धिमान मानते हैं। परन्तु वे जब हिन्दुस्थान आये तो उससे पहले उन्होंने कभी रुई नहीं देखी थी। अत: कपास का पेड़, उससे निकाली गई रुई, उसका धागा और फिर कपड़ा उनके लिए नई चीज थी। उन्हें तो सिर्फ यही ज्ञान था कि ऊन भेड़ पर होती है और उससे वस्त्र बुनते हैं। अत: वे कहते थे कि यह हिन्दुस्थानी बड़ा चालाक है। यह ऊन जो भेड़ पर होनी चाहिए, वह यह पेड़ पर उगाता है और उससे कपड़ा बनाता है। (भारत में विज्ञान... डा. मुरली मनोहर जोशी, पृ.-१३) ये तथ्य यूरोपीय मानसिकता व प्रयोगशीलता के प्रति उनकी दृष्टि को बताते हैं।

यह ठीक है कि पिछले १५० वर्षों में विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में यूरोप में अप्रतिम प्रगति हुई, पर उससे पूर्व का समाज कैसा था? उसमें अंधश्रद्धाएं हावी थीं या तर्क? बाइबिल या चर्च की मान्यताओं के विपरीत किसी ने कुछ कहा, प्रयोग किया, तो उसके साथ कैसा व्यवहार किया गया, इस पर थोड़ा दृष्टिपात करेंगे तो यूरोप की मानसिकता का पता लगेगा।

1. गैलीलियो के जन्म से पूर्व लगभग १५०० वर्षों तक यूरोप पर अरस्तू के विचारों व धारणाओं का राज्य रहा। क्लौडियल टॉलेमी ने ई. सन् १३९ में अरस्तू के अनुसार पृथ्वी केन्द्रित विश्व की मान्यता स्थापित की, जिसमें पृथ्वी केन्द्र में और सूर्य उसके आसपास चक्कर लगाता है। इन मान्यताओं को चर्च का संरक्षण मिला और ये मान्यताएं शताब्दियों तक समूचे पश्चिमी जगत में हावी रहीं। पोलैंड में जन्मे कोपरनिकस ने सन् १५४३ में टॉलेमी की धारणा के विपरीत यह प्रतिपादित किया कि सूर्य केन्द्र में है और पृथ्वी उसके आसपास चक्कर

लगाती है। उसकी यह स्थापना पश्चिमी विज्ञान के इतिहास का प्रारंभ बिन्दु बन गई। चर्च विरुद्ध इस बात का जिस पुस्तक में प्रतिपादन किया गया, उसके छपने के पूर्व कोपरनिकस का देहांत हो गया। परन्तु बाद में जब यह पुस्तक प्रकाशित हुई तो उस पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

2. गैलीलियो ने दूरबीन का आविष्कार किया और उसके द्वारा आकाश का निरीक्षण किया और उसने पाया कि सूर्य केन्द्र में होने का कोपरनिकस का सिद्धांत सही है। इस पर टॉलेमी को मानने वाले लोगों ने दूरबीन के प्रयोग को धर्मविरुद्ध कार्य माना। धर्मगुरुओं ने कोपरनिकस को सही मानना भी पवित्र शास्त्रों के विरुद्ध है, ऐसा कहकर गैलीलियो से माफी मंगवा कर आगे से ऐसा धर्मविरुद्ध कार्य न करने का वचन लिया और उसे घर में नजरबंद किया। इस नजरबंदी की अवस्था में उसने भौतिक शास्त्र पर ग्रंथ लिखा, जिसके छपने के पूर्व ही वह अंधा हो गया और नजरबंदी की अवस्था में ही सन् १६४२ में ७८ वर्ष की अवस्था में दुनिया को छोड़कर चला गया।
3. कोपरनिकस के सूर्य केन्द्रिक सिद्धांत का समर्थन १५४६ में डेनमार्क में जन्मे खगोलवेत्ता टाइको ब्रूनो ने किया। गणित और धातुशास्त्र में निष्णात ब्रूनो ने ७५० तारों को पहचाना। बिना दूरबीन के अवलोकन से उसने ये उपलब्धियां प्राप्त कीं। विश्व में पृथ्वी जैसे अनेक जगत हैं, ऐसी उसकी स्थापनाओं से क्रोधित हो पोप और पादरियों ने उसे आठ वर्ष तक कैद में रखा और अपने सिद्धांतों से समझौता न करने व माफी न मांगने के कारण सन् १६०० में उसे जिंदा जला दिया।
4. ब्रूनो के सहयोगी रहे स्वतंत्र प्रतिभा के धनी जर्मनी में १५७१ में जन्मे जोन केप्लर ने खगोल शास्त्र का गहन अध्ययन कर ग्रहों की स्थिति व गति के नियम खोजे व उनकी कक्षाओं के नक्शे तैयार किये। उसकी इस समझ को धर्मशास्त्र विरुद्ध मानकर कैथोलिकों ने उस पर हमला किया और वह भागता रहा तथा गरीबी व बीमारी की अवस्था में लीस नगर से जाते समय एक धर्मशाला में १६३० में उसकी दु:खद मृत्यु हो गई।

अपने मत अथवा स्थापित मान्यता के विरुद्ध कहने वाले को जिंदा जलाने, कैद में रखने या घुट-घुट कर मरने को मजबूर करने वाले ये उदाहरण बताते हैं कि ४०० वर्ष पूर्व तक तर्क एवं प्रयोगशीलता के प्रति पश्चिम में क्या दृष्टि थी।

पश्चिम का विज्ञान : एक अस्पष्ट से दूसरे अस्पष्ट तक

लेखक - सुरेश सोनी

विज्ञान का एक दूसरा रूप है जिसे प्योर साइंस कहा गया है। इसके अन्तर्गत कुछ मूलभूत प्रश्नों के संदर्भ में विचार किया गया। ब्रह्माण्ड क्या है? इसका अंतिम सत्य क्या है ब्रह्माण्ड की विभिन्न इकाइयों का स्वरूप क्या है तथा उनका आपसी सम्बंध क्या है?

उपर्युक्त मूलभूत प्रश्नों पर पश्चिम और भारत-दोनों ही जगह विचार किया गया, विश्लेषण किया गया, निष्कर्ष निकाले गए।

परन्तु दोनों के मार्ग भिन्न थे। जैसा स्वामी विवेकानंद ने कहा, 'पश्चिमी विज्ञान बहिर्जगत् के व्यापक विश्लेषण और प्रयोग द्वारा इन प्रश्नों के उत्तर पाने की दिशा में बढ़ा और भारत बहिर्जगत् का सामान्य परन्तु अन्तर्जगत् का विशेष रूप से अवलोकन करते हुए आगे बढ़ा।' दोनों ने इस खोज यात्रा के निष्कर्ष निकाले, उस आधार पर उनकी एक विश्व दृष्टि और जीवन दृष्टि बनी, जिसने सम्पूर्ण जगत के विभिन्न पारस्परिक व्यवहारों को प्रभावित किया।

भारत का वैज्ञानिक चिंतन की अंतिम कड़ियों में हम पश्चिम और भारत की इस खोज यात्रा और उसके परिणामों का विश्लेषण करेंगे।

पश्चिम की विज्ञान यात्रा

(क) प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों के अनुसार जगत पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि-इन चार तत्वों से बना है। कुछ दार्शनिकों ने यह माना कि जगत अणुमय है। इन सभी का संसार के प्रति जैविक दृष्टिकोण था। यह धारणा सन् १५०० तक पश्चिम में प्रभावी रही परन्तु सोलहवीं-सत्रहवीं सदी में पश्चिम में विज्ञान के क्षेत्र में मूलभूत परिवर्तन हुए, जिन्होंने आज तक चली आ रही धारणाओं को जड़-मूल से हिला दिया। इस परिवर्तन के सूत्रधार थे फ्रांसिस बेकन, रेने देकार्ते, गैलीलियो एवं न्यूटन।

(ख) जगत के ज्ञान की प्राप्ति हेतु फ्रांसिस बेकन ने गणितीय पद्धति का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार पहले प्रयोग करना फिर सामान्य निष्कर्ष निकालना तथा पुन: प्रयोग से जांचना, इससे जो ठीक निकलेगा वह ठीक और बाकी गलत है।

रेने देकार्ते ने ज्ञान की पारंपरिक विधि न मानते हुए कहा कि समस्त ज्ञान, जिसमें संभावना की बात कही गई हो, अस्वीकार करने योग्य है। केवल वही ज्ञान स्वीकार्य है जो निश्चयात्मक और संशयातीत हो। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने का तरीका उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डिस्कोर्स ऑन मेथड' में बताया। इस पुस्तक में उन्होंने प्रतिपादित किया कि किसी समस्या को जानना है तो उसके छोटे से छोटे टुकड़े करते जाएं, फिर उनका तार्किक संयोजन करें। यह विश्लेषणात्मक पद्धति उसकी आधुनिक विज्ञान को बड़ी देन बनी।

गैलीलियो ने यंत्रों के प्रयोग से निरीक्षण करने का प्रयत्न किया और ग्रहों के निरीक्षण के आधार पर उस समय की भू-केन्द्रक विश्व की अवधारणा को चुनौती दी और प्रतिपादित किया कि सूर्य पृथ्वी का नहीं अपितु पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगाती है।

इस प्रकार देकार्ते ने विश्व को छोटे से छोटे टुकड़े कर समझने की बात कही तो गैलीलियो ने विशाल अंतरिक्ष के निरीक्षण का द्वार खोला और आगे चलकर पश्चिम की विज्ञान यात्रा ब्रह्माण्ड के सूक्ष्मतम अंश की खोज और उसकी विशालता को मापने की दिशा में अग्रसर हुई।

ब्रह्माण्ड के सूक्ष्मतम भाग की खोज में पहले माना गया कि यह जगत तत्व (एलीमेंट) यौगिक (कम्पाऊन्ड) तथा मिश्रण

(मिक्सचर) का समुच्चय है। फिर खोज आगे बढ़ी तब कहा कि मूल तत्व एलीमेंट हैं और वह अविभाज्य है। लगभग ९२ प्रकार के तत्व खोजे गए और माना गया कि जगत इनका समुच्चय है। परन्तु एवगेड्रो और डाल्टन ने प्रतिपादित किया कि तत्व (एलीमेंट) मूल नहीं हैं बल्कि ये छोटे-छोटे अविभाज्य कणों से बने हैं जिन्हें अणु और परमाणु कहा गया।

न्यूटन ने इन समस्त वैज्ञानिक तथ्यों का संयोजन करते हुए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की कल्पना प्रस्तुत की। उसने अपनी प्रतिभा से एक नयी गणितीय पद्धति, जिसे डिफरेंशियल कैलकुलस कहा जाता है, का विकास किया तथा उसके द्वारा केप्लर के ग्रहीय गति (प्लेनेटरी मोशन) के नियमों तथा गैलीलियो के गिरती वस्तु के नियम (लॉ ऑफ फालिंग बॉडीज) को अपने सामान्य गति के नियमों में समाहित किया, जिसके द्वारा सामान्य पत्थर से लेकर सौर मंडलों और तारों तक के नियंत्रण और गति की व्याख्या हो सकती थी। इस आधार पर न्यूटन ने अपना एक ब्रह्माण्डीय मॉडल प्रस्तुत किया। न्यूटन के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में दिक् और काल अनंत है इनमें दिक् एक रस है व काल सरल रैखिक है। इसी देश-काल से सामान्य रेत के कण से लेकर विराट ग्रह व नक्षत्र सब बने हैं। इनका निर्माण छोटे-छोटे अविभाज्य कणों के द्वारा हुआ है और कणों को गति गुरुत्व शक्ति से मिलती है। न्यूटन ने अपने गति संबंधी नियमों से ब्रह्माण्ड की गति की व्याख्या प्रस्तुत की तथा प्रतिपादित किया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इन नियमों से चलता है। आगे लगभग ३०० वर्षों तक न्यूटन की ब्रह्माण्डीय मशीन की अवधारणा सम्पूर्ण पश्चिमी जगत पर हावी रही।

(ग) १९वीं सदी के अंत तथा २०वीं सदी के प्रारंभ में विज्ञान के क्षेत्र में दो बड़ी सैद्धान्तिक प्रणालियां अस्तित्व में आएं जिन्होंने न्यूटन के मशीनी ब्रह्माण्ड तथा इस जगत का निर्माण मूलभूत कणों से हुआ है, इस अवधारणा को जड़-मूल से हिला दिया। ये सैद्धान्तिक प्रणालियां थीं ऊर्जा पुंज सिद्धान्त (क्वांटम थ्योरी) जिसका सम्बन्ध शक्ति की बुनियादी इकाई से था। तथा सापेक्षता सिद्धान्त (थ्योरी ऑफ रिलेटीविटी) जिसका सम्बंध दिक् (स्पेस) काल (टाइम) तथा सम्प्पूर्ण ब्रह्माण्ड की बनावट से था।

ऊर्जापुंज सिद्धान्त के प्रतिपादन में मैक्सवेल, मैक्सप्लांक, मैडमक्यूरी, रदर फोर्ड, नील्स बोर, हीजनबर्ग, जेम्स चाडविक, लुई डी व्रोगली, इरविन श्रोडिंगर आदि का योगदान रहा।

(१) १८वीं सदी के मध्य तक परमाणु अविभाज्य माना गया। परन्तु हेम्होस नामक जर्मन भौतिकविद् ने यह अवधारणा रखी कि विद्युत ऋण और धन आवेश युक्त होती है और जैसे तत्व परमाणु से बने हैं, उसी प्रकार विद्युत भी कणों से बनी होगी। आगे चलकर थामसन, हर्ट आदि ने प्रयोगों से सिद्ध किया कि विद्युत इलेक्ट्रान नामक सूक्ष्म कणों से बना है। ये कण परमाणु के नाभिक के आस-पास चक्कर लगाते हैं। रदरफोर्ड और नील्सबोर ने परमाणु के ग्रहीय रूप का प्रतिपादन किया। आगे चलकर परमाणु का नाभिक टूटा और घन आवेशित प्रोटान और बिना आवेश के न्यूट्रान ऋण की खोज हुई। आइंस्टीन ने प्रतिपादित किया कि प्रकाश फोटोन नामक कणों का प्रवाह है जो विद्युत चुम्बकीय कणों से भिन्न है। इस खोज की प्रक्रिया में १९६३ तक परमाणु के अंदर मेसोन, पायोन न्यूयॉन, हाइपरान, न्यूट्रीनों आदि २०० प्रकार के सूक्ष्म कणों की खोज हुई और मानो कणों का जंगल खड़ा हो गया। अनेकानेक कण खोजे गए, परन्तु इन कणों का सत्य क्या है, यह जानने जब विज्ञान निकला तो एक बाधा आई, जिसका समाधान आज तक नहीं हो पाया। क्योंकि यदि हम इलेक्ट्रॉन

की आन्तरिक रचना जानना चाहते हैं तो हमें इलेक्ट्रॉन की गति तथा दिशा का ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। उसकी दिशा जानने के लिए गामा किरण का प्रयोग करना पड़ेगा। पर इलेक्ट्रान, जो प्रकाश के साधारण फोटोन से टकराकर अपना रूप बदल देता है, गामा किरण से टकराने के साथ ही भिन्न रूप में आ जाएगा। तब समस्या यह आई कि जिसकी आन्तरिक रचना जानना है उसे देखते हैं तो वह वही नहीं रहता। इसे वर्नर हीजनबर्ग ने अनिश्चितता का सिद्धान्त कहा और कहा कि इलेक्ट्रान कोई वस्तु नहीं है, इसकी अन्तरिक रचना जानना कठिन है। तब प्रश्न उठा कि फिर जानने का माध्यम क्या? इस प्रश्न के उत्तर की खोज में ध्यान में आया कि मूल तत्व कण है या तरंग, यह हम नहीं जानते। परन्तु कभी ये एक इकाई के रूप अकेले नहीं अपितु एक प्रवाह के रूप में व्यवहार करते हैं। कभी वे कण रूप में भासित होते हैं तथा कभी तरंग रूप में, और यह अनुभूति वास्तविक है। तो ध्यान में आया कि कण या तरंग रूप का अनुभव उस प्रक्रिया पर निर्भर है जिसका उपयोग जानने के लिए किया गया है। इस प्रकार इन सूक्ष्म तत्वों की अनुभूति दृष्टा या आब्जर्वर तथा उसके द्वारा अपनाये जाने वाली प्रक्रिया पर आश्रित हो गई। आज का वैज्ञानिक असंख्य कणों को न जानते हुए भी उनके स्वभाव के आधार पर उनसे व्यवहार करता है। इसका उल्लेख करते हुए सर जेम्स जीन्स अपनी पुस्तक 'न्यू बैकग्राउण्ड ऑफ साइंस' में कहते हैं 'आज के भौतिक विज्ञान के इलेक्ट्रान, प्रोटान, फोटान वैसे ही हैं, जैसे किसी बालक के पास बीज गणित के क,ख,ग। आज अधिक से अधिक यह हो रहा है कि बिना यह जाने कि यह कण क्या है हम इनसे व्यवहार कर कुशलतापूर्वक आविष्कार करने में सक्षम हुए हैं।' इससे व्रह्माण्ड के अंतिम सत्य को जानने की विज्ञान यात्रा आइंस्टीन के शब्दों में 'एक अस्पष्ट से दूसरे अस्पष्ट को निकालना मात्र रह गई है।'

(२) विज्ञान ने व्रह्माण्ड के मूल तत्व की खोज की यात्रा में पाया कि अन्त: पारमाण्विक जगत के कण या तरंग अकेले व्यवहार नहीं करते अपितु उनका प्रवाह रहता है और यह प्रवाह ऊर्जा रूप है और हम उन ऊर्जाओं के साथ व्यवहार करते हैं। पूर्व में प्रकाश, ताप, चुम्बकत्व, विद्युत, ध्वनि आदि विविध शक्तियां भिन्न-भिन्न मानी जाती थीं। परन्तु बाद में नवीन खोजों से शक्तियों के एकीकरण की प्रक्रिया चली और इसमें से माना गया कि चार मूलभूत बल हैं। (१) गुरुत्वाकर्षण बल-यह सभी मुख्य कणों इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन तथा न्यूट्रोनों के बीच है तथा पृथ्वी सहित समस्त व्रह्माण्ड पर नियमन करने वाला बल है। पर इसका कारण माने जाने वाले ग्रेविटोन को अभी तक जाना नहीं जा सका है। (२) विद्युत चुम्बकीय बल, इलेक्ट्रोमेग्नेटिक फोर्स। अब यह सिद्ध हो गया है कि ताप, विद्युत, ध्वनि, चुम्बकत्व और अन्य सब शक्तियां विभिन्न तरंगदैध्य वाली विद्युत चुम्बकीय शक्ति ही हैं। (३) प्रबल नाभिकीय बल, यह परमाणु के नाभिक में प्रोट्रॉन और न्यूट्रॉन को बांधे रखने वाला बल है। यह विद्युत चुम्बकीय बल से दस लाख गुना प्रबल है। (४) निर्बल नाभिकीय बल (ध्ड्ढड्ढत्त् त्दद्यड्ढद्धद्मठ्ठड़द्यत्दृद)। इन चार बातों में सब कुछ समाहित है। इसमें विद्युत चुम्बकीय तथा प्रबल और निर्बल नाभिकीय बलों का समन्वय वाइनबर्ग एवं पाकिस्तान के अब्दुस सलाम ने किया है। परन्तु अभी गुरुत्व बल को इसमें नहीं जोड़ा जा सका है। (जारी)

(३) आइंस्टीन ने अपने विशिष्ट सापेक्षिता सिद्धांत में पदार्थ व ऊर्जा का एकीकरण किया। उन्होंने कहा ऊर्जा की स्थूल अभिव्यक्ति पदार्थ है तथा अपने प्रसिद्ध समीकरण कउथ्ड़२ द्वारा सिद्ध किया कि दोनों एक-दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं।

क्या विज्ञान का जन्म पश्चिम में हुआ था?

(इस लेख में दिये गये विचार श्री चन्द्रकान्त राजू द्वारा रचित पुस्तक 'क्या विज्ञान पश्चिम में शुरू हुआ?' से लिये गये हैं। इस नई किताब में पश्चिम के इस पूर्वाग्रहपूर्ण इतिहास को चुनौती दी गयी है और बताया गया है कि क्रुसेड और इंक्विजिशन का इतिहास पर क्या असर पड़ा। मूलत: अंग्रेजी में लिखित इस किताब का हिंदी संस्करण प्रकाशित किया है दानिश बुक्स, दिल्ली ने जबकि अंग्रेजी संस्करण मल्टीवर्सिटी और सिटिजंस इंटरनेशनल, पेनांग, मलेशिया से प्रकाशित है। यह किताब कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, लॉस एंजिलिस के प्रो. विनय लाल द्वारा संपादित ' डिस्सेंटिंग नालेजेस' (Dissectimg Knowleges) पुस्तिका श्रृंखला में आठवीं है।)

मजहब और सियासत के मेल से इतिहास विकृत होता है। पश्चिम में सियासत के साथ मजहब का गठजोड़ 1700 साल पहले शुरू हुआ। इसका पश्चिम के इतिहास पर क्या असर हुआ? इसकी एक झलक दिखती है विज्ञान के इतिहास लेखन में। पश्चिमी इतिहास हमें बतलाता है कि विज्ञान है तो सार्वभौमिक, मगर यह जन्मा सिर्फ पश्चिम में : जहाँ वह ग्रीक लोगों के बीच शुरू हुआ और फिर कोपर्निकस और न्यूटन की क्रांतियों के साथ यूरोप में फैला. चर्च और सियासत के मेल से बना यह इतिहास पूर्वाग्रहों से भरा है।

क्रुसेड के दौरान, टोलेडो में कब्जा की गईं अरबी किताबों का सामूहिक अनुवाद लैटिन में किया गया. उस समय यूरोप में इस्लाम के खिलाफ तीखा धार्मिक उन्माद फैला था तो इस्लामी स्रोतों से सीखने को कैसे उचित ठहराया जाता? लिहाजा यह कमाल का दावा किया गया कि इन किताबों में जो भी ज्ञान है वह यूनानियों की दें है, अरबों ने तो सिर्फ उसे सदियों से संभाल कर रखा. इस कहानी के अनुसार ज्यामिति की शुरुआत युक्लिड से और खगोलविज्ञान की क्लॉडियस टॉलेमी से हुई. बहुत से भोले लोगों ने प्राथमिक तथ्यों की जाँच किए बिना इस पर विश्वास कर लिया. जबकि हकीकत यह है कि "युक्लिड" और "क्लॉडियस टॉलेमी" के वजूद के लिए भी कोई गंभीर सबूत नहीं हैं और न ही कोई विश्वस्नीय तथ्य कि इन लोगों का क्रमशः एलिमेंट्स और अल्माजेस्ट नाम की किताबों से किसी तरह का संबंध था, जिनका श्रेय उन्हें दिया जाता है. इसके विपरीत राजू की किताब से ऐसे अनेक ठोस सबूतों का पता चलता है जो बताते हैं कि ये किताबें काफी बाद की हैं.

इसी प्रकार, इंक्विजिशन के दौरान यूरोपियों ने गैर-ईसाई सूत्रों का जिक्र कभी नहीं किया, क्योंकि उन्हें डर था कि उन्हें विधर्मी ठहरा कर यातनाएँ दे कर मार दिया जाएगा. इसलिए वे नियमित रूप से सभी विचारों के "स्वतंत्र रूप से पुनर्खोज" का दावा करते थे. वास्तव में कोपर्निकस ने तो अरब लेखकों से शब्दशः नक़ल किया, जबकि न्यूटन भारत से आयातित कैलकुलस पर अत्यधिक निर्भर था.

तथ्यों के आलोक में विज्ञान की पश्चिम में उत्पत्ति या विज्ञान के पश्चिमी मूल की भव्य कथा अब बिखर गई है. यह

किस्सा संचारण (यूनानियों से) और गैर-संचारण (दूसरे से) के झूठे दावों पर आधारित था, जिसके लिए सबूत के दोहरे मानदंडों का इस्तेमाल किया गया.

यूरोप में आयातित ज्ञान का धर्मशास्त्रीय-रूप-से-सही स्रोत ही नहीं बताया गया, क्रुसेड के बाद के ईसाई धर्मशास्त्र के अनुकूल उसकी पुनर्व्याख्या भी की गई. इस तरह विज्ञान में मजहब की व्यवस्थित घुसपैठ हुई. उदहारण के लिए, न्यूटन के नियमों के लिए अंग्रेजी में "कानून" (लॉ) शब्द का इस्तेमाल किया जाता है. क्रुसेड के बाद क्रिस्तानी धर्मशास्त्र में ऐसा माना गया कि भगवान दुनिया को दैवी कानूनों के तहत संचालित करता है और न्यूटन ने दावा किया कि उसे ईश्वर के इन कानूनों का पता चल गया है. उसकी सोच पूरी तरह गलत थी. उपनिवेशवादी और नस्लवादी इतिहासकारों ने इसी आधार पर ज्ञान की अन्य सभी प्रणालियों को यह कह कर गलत ठहराया कि जो पश्चिम कि नक़ल नहीं करता वह विज्ञान हो ही नहीं सकता. इस चालबाजी के साथ, धर्मशास्त्र के रंग में रँगे यूरोपीय "एथ्नोमैथमेटिक्स" को सार्वभौमिक करार दिया गया. यह भ्रामक और झूठा प्रचार लोगों के जेहन पर इस कदर हावी हो गया कि लोग यह मानने लगे कि वे पिछडे इसलिए हैं क्योंकि उनके पास विज्ञान नहीं है और इसका इलाज सिर्फ यह है कि वे पश्चिम की नक़ल करें. इसलिए आजादी के बाद भी धर्मशास्त्र से रँगे मैथमेटिक्स और विज्ञान की बिना समीक्षा किये इन्हें धर्मनिरपेक्ष ज्ञान के रूप में स्कूली बच्चों को पढ़ाया जाता है.

राजू ने अपनी उक्त किताब के जरिये इस विभ्रम को उजागर किया है और बताया है कि इसका असली इलाज "विज्ञान में स्वराज" ही हो सकता है न कि पश्चिम कि नक़ल करना । इसके लिए गणित और विज्ञान को व्यावहारिक उद्देश्यों से जोड़कर पश्चिमी धर्मशास्त्र से दूर रखना होगा और पश्चिमी सामाजिक स्वीकृति के मानदंड से खुद को अलग करना होगा. चूँकि ज्यादातर लोग विज्ञान के मामले में अनपढ़-जैसे हैं, वे स्वयं तय नहीं कर पाते कि अच्छा या वास्तविक विज्ञान क्या है और दूसरों द्वारा फैलाए गए अफसानों के घेरे में फँस जाते हैं. इसलिए "विज्ञान में स्वराज" की खातिर पहला जरूरी कदम है विज्ञान के पश्चिमी इतिहास का पर्दाफाश करना और राजू की इस पुस्तक में यही किया गया है.

पुस्तक का सारांश

पश्चिमी इतिहास के मुताबिक विज्ञान ग्रीक लोगों में शुरू हुआ और यूरोप में नवजागरण के बाद विकसित हुआ. इस कहानी को तीन चरणों में गढ़ा गया था.

पहला, क्रुसेड (यानी युरोपी धर्मयुद्ध) के दौरान एक अरब किताबघर ईसाईयों के कब्जे में आया और उन किताबों का सामूहिक अनुवाद हुआ. धार्मिक उन्माद के उस माहौल में दुश्मन से सीखना कैसे उचित ठहराया जाय? इसलिये कहा गया कि इन किताबों में जो विज्ञान है वह सब ग्रीक मूल का है. दो प्रमुख मामले यूक्लिड (ज्यामिति) और क्लोडिअस टोलेमी (खगोल विज्ञान) — दोनों ही मनगढ़ंत हस्तियाँ — के द्वारा इस प्रक्रिया को इस पुस्तक में दर्शाया गया है.

दूसरा, इनक्विजिशन के दौरान, समूची दुनिया के वैज्ञानिक ज्ञान को फिर धर्मशास्त्रीय-रूप-से-सही मूल देने की कोशिश

की गई यह कह कर कि यह ज्ञान दूसरों से संचारित *नहीं* था, बल्कि यूरोपियों ने इसकी "स्वतंत्र रूप से पुन: खोज" की. कोपर्निकस और न्यूटन (कैल्कुलस) के मामले इस "पुन: खोज द्वारा क्रांति" को दर्शाते हैं.

तीसरे, इस विनियोजित ज्ञान की पुनर्व्याख्या कर उसे क्रुसेडोत्तर क्रिस्तानी धर्मशास्त्र के अनुकूल बनाया गया. नस्लवादी और उपनिवेशवादी इतिहासकारों नें इसका फायदा उठाते हुए यह कहा कि (धर्मशास्त्रीय रूप से) "सही" विज्ञान (ज्यामिति, कैल्कुलुस, आदि) सिर्फ़ यूरोप में ही मौजूद था.

इन प्रक्रियाओं से विनियोजन अब भी जारी है।

- विज्ञान के इतिहास की "वर्ल्ड क्लास" जालसाजी की गयी, क्रुसेड (युरोपी धर्मयुद्ध) और इंक्विजिशन के दौरान.
- "युक्लिड" और "क्लॉडियस टॉलेमी" के वजूद के लिए भी कोई गंभीर सबूत नहीं, उनको अध्यासित किताबें बहुत बाद की.
- कोपर्निकस ने अरब लेखकों से शब्दशः नक़ल की.
- न्यूटन भारत से आयातित कैलकुलस पर अत्यधिक निर्भर था.
- विकृत पश्चिमी इतिहास के साथ साथ पश्चिमी धर्मशास्त्र से रँगे मैथमेटिक्स और विज्ञान की बिना समीक्षा किये इन्हें धर्मनिरपेक्ष ज्ञान के रूप में स्कूली बच्चों को पढ़ाया जाता है.
- "विज्ञान में स्वराज" की मांग : गणित और विज्ञान को व्यावहारिक उद्देश्यों से जोड़कर पश्चिमी धर्मशास्त्र से दूर रखना होगा और पश्चिमी सामाजिक स्वीकृति के मानदंड से खुद को अलग करना होगा.

भारत ने ही सोचा - मनुष्य जन्म ही क्यों?

लेखक - सुरेश सोनी

आइंस्टीन ने अपने विशिष्ट सापेक्षता सिद्धांत में पदार्थ व ऊर्जा का एकीकरण किया। उन्होंने कहा कि ऊर्जा की स्थूल अभिव्यक्ति पदार्थ है तथा अपने प्रसिद्ध समीकरण कउथ्ड़२ द्वारा सिद्ध किया कि दोनों एक-दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं। न्यूटन ने कहा था कि स्पेश (अन्तराल) चारों ओर एक रस है और काल सरल रैखिक है। पर आइंस्टीन ने कहा, व्रह्माण्ड मात्र यंत्र नहीं है। उसकी गतिविधियां यांत्रिक नहीं है अपितु व्रह्माण्ड लचीला है व विभिन्न बनावट वाला है। जहां भी पदार्थ व गति है वहां दिक् (स्पेस) वक्र हो जाता है जैसे समुद्र में तैरती मछली अपने आस-पास के पानी को काटती है उसी प्रकार एक तारा या पुच्छल तारा या ज्योतिर्माला उस दिक् काल की बनावट में से, जिसमें से वह गुजरता है, परिवर्तन ला देता है। दिक् और काल अलग-अलग नहीं हैं, क्योंकि एक बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है। घटनाओं के बिना काल का अस्तित्व नहीं और काल के बिना घटनाओं की जानकारी नहीं। इस प्रकार आइंस्टीन ने पदार्थ, ऊर्जा, दिक्, काल इनका एकीकरण किया। इस प्रकार पश्चिम की सम्पूर्ण विज्ञान यात्रा को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते

हैं-

समस्त स्थूल जगत तत्वों से, तत्व परमाणुओं से तथा परमाणु सूक्ष्म कणों से बने हैं। परन्तु ये कण हैं भी या नहीं, यह जानना कठिन है। अत: ये सब प्रवाह हैं और प्रवाह बल या ऊर्जा रूप है। यह ऊर्जा चार प्रकार की है, इसमें तीन का एकीकरण समझ में आता है। इनका व्यवहार दिक् (स्पेस) में है और दिक् (स्पेस) तथा काल (टाइम) अलग नहीं है। अत: सम्पूर्ण जगत् दिक्-काल के चतु: आयामी क्षेत्र से उद्भूत है। इस एकीकरण में गुरुत्वाकर्षण शक्ति का एकीकरण संभव नहीं हुआ है। जिस दिन यह हो जाएगा, उस दिन शायद भौतिकी का अंत हो जाएगा। पश्चिम के सैद्धान्तिक क्षेत्र की विज्ञान यात्रा यहां तक हुई है।

प्रश्न उठता है, कल यदि गुरुत्वाकर्षण शक्ति का भी एकीकरण हो गया तो क्या इस विश्व की पहेली सुलझ जाएगी? क्या विश्व का अंतिम सत्य जान लिया जाएगा? लगता है नहीं। क्योंकि तब कुछ मूलभूत अन्य प्रश्न उठेंगे। मानव का मन क्या है? बुद्धि क्या है? भावना क्या है? जिसे फ्र्ी विल या स्वतंत्र इच्छा कहते हैं, वह क्या है? इसका और स्थूल सृष्टि व उसमें होने वाली घटना का सम्बंध क्या है? सर्वोपरि, जिसे चेतना कहा जाता है, क्या है? क्योंकि अभी तक विज्ञान ने मन, चेतना, बुद्धि आदि को अपनी परिधि में नहीं लिया है और विज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा जैव विज्ञान ऐसे अलग खेमों में बंटा हुआ है। एक नई प्रकार की जाति व्यवस्था मानो खड़ी हुई है और आज की त्रासदी के पीछे यह खंडित दृष्टि बहुत बड़ा कारण है।

भारत की विज्ञान यात्रा

हमारे यहां प्राचीन काल से व्रह्मांड क्या है और कैसे उत्पन्न हुआ, क्यों उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रश्नों का विचार हुआ। पर जितना इनका विचार हुआ उससे अधिक ये प्रश्न जिसमें उठते हैं, उस मनुष्य का भी विचार हुआ। ज्ञान प्राप्ति का प्रथम माध्यम इन्द्रियां हैं। इनके द्वारा मनुष्य देखकर, चखकर, सूंघकर, स्पर्श कर तथा सुनकर ज्ञान प्राप्त करता है। बाह्य जगत के ये माध्यम हैं। विभिन्न उपकरण इन इंद्रियों को जानने की शक्ति बढ़ाते हैं।

दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण माध्यम अन्तर्ज्ञान माना गया, जिसमें शरीर को प्रयोगशाला बना समस्त विचार, भावना, इच्छा इनमें स्पन्दन शांत होने पर सत्य अपने को उद्घाटित करता है। अत: ज्ञान प्राप्ति के ये दोनों माध्यम रहे तथा मूल सत्य के निकट अन्तर्ज्ञान की अनुभूति से उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयत्न हुआ। यद्यपि वेदों, व्राह्मणों, उपनिषदों, महाभारत, भागवत आदि में ऊपर उठाए प्रश्नों का विवेचन मिलता है, परन्तु व्रह्माण्ड का विश्लेषण परमाणु विज्ञान की दृष्टि से सर्वप्रथम एक शास्त्र के रूप में सूत्रबद्ध ढंग से महर्षि कणाद ने आज से हजारों वर्ष पूर्व अपने वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित किया था।

कुछ मामलों में महर्षि कणाद का प्रतिपादन आज के विज्ञान से भी आगे जाता है। महर्षि कणाद कहते हैं, द्रव्य को छोटा करते जाएंगे तो एक स्थिति ऐसी आएगी जहां से उसे और छोटा नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि उससे अधिक छोटा करने का प्रत्यन किया तो उसके पुराने गुणों का लोप हो जाएगा। दूसरी बात वे कहते हैं कि द्रव्य की दो स्थितियां हैं- एक

आणविक और दूसरी महत्। आणविक स्थिति सूक्ष्मतम है तथा महत् यानी विशाल व्रह्माण्ड। दूसरे, द्रव्य की स्थिति एक समान नहीं रहती है। अत: कणाद कहते हैं-

'धर्म विशेष प्रसुदात द्रव्य
गुण कर्म सामान्य विशेष समवायनां
पदार्थानां साधर्य वैधर्यभ्यां
तत्वज्ञाना नि:श्रेयसम वै.द.-४

अर्थात् धर्म विशेष में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय के साधर्य और वैधर्म्य के ज्ञान द्वारा उत्पन्न ज्ञान से नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है।

द्रव्य क्या है? इसकी महर्षि कणाद की व्याख्या बहुत व्यापक एवं आश्चर्यजनक है। वे कहते हैं-

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालोदिगात्मा मन इति द्रव्याणि
वै.द. १/५

अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा जीवात्मा तथा मन- ये द्रव्य हैं। यहां पृथ्वी, जल आदि से कोई हमारी पृथ्वी, जल आदि का अर्थ लेते हैं। पर ध्यान रखें इस सम्पूर्ण व्रह्माण्ड में ये नौ द्रव्य कहे गए, अत: स्थूल पृथ्वी से यहां अर्थ नहीं है।

वे कहते हैं, पृथ्वी यानी द्रव्य का ठोस (च्दृथ्त्ड्ड) रूप, जल यानी द्रव्य (ख्त्दूदद्वत्ड्ड) रूप तथा वायु (क्रठ्ठद्म) रूप, यह तो सामान्यत: दुनिया में पहले से ज्ञात था, पर महर्षि कणाद कहते हैं कि तेज भी द्रव्य है। जबकि पदार्थ व ऊर्जा एक है यह ज्ञान २०वीं सदी में आया है। इसके अतिरिक्त वे कहते हैं- आकाश भी द्रव्य है तथा आकाश परमाणु रहित है और सारी गति आकाश के सहारे ही होती है, क्योंकि परमाणु के भ्रमण में हरेक के बीच अवकाश या प्रभाव क्षेत्र रहता है। अत: हमारे यहां घटाकाश, महाकाश, हृदयाकाश आदि शब्दों का प्रयोग होता है। महर्षि कणाद कहते हैं- दिक् (च्द्रठ्ठड़ड्ड) तथा काल (च्र्त्थ्ड्ड) यह भी द्रव्य है, जबकि पश्चिम से इसकी अवधारणा आइंस्टीन के सापेक्षतावाद के प्रतिपादन के बाद आई।

महर्षि कणाद के मत में मन तथा आत्मा भी द्रव्य हैं। इस अवधारणा को मानने की मानसिकता आज के विज्ञान में भी नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य की स्थित आणविक है। वे गतिशील हैं तथा परिमण्डलाकार उनकी स्थिति है। अत: उनका सूत्र है-

'नित्यं परिमण्डलम्' वै.द. ७/२०
परमाणु छोटे-बड़े रहते हैं, इस विषय में महर्षि कणाद कहते हैं-
एतेन दीर्घत्वहृस्वत्वे व्याख्याते (वै.द.) ७-१-१७

आकर्षण-विकर्षण से अणुओं में छोटापन और बड़ापन उत्पन्न होता है। इसी प्रकार व्रह्मसूत्र में कहा गया-
महद् दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् (व्र.सूत्र २-२-११)
अर्थात् महद् से ह्रस्व तथा दीर्घ परिमण्डल बनते हैं।
परमाणु प्रभावित कैसे होते हैं तो महर्षि कणाद कहते हैं-
विभवान्महानाकाशस्तथा च आत्मा (वै.द. ७-२२)
अर्थात् उच्च ऊर्जा, आकाश व आत्मा के प्रभाव से।

परमाणुओं से सृष्टि की प्रक्रिया कैसे होती है, तो महर्षि कणाद कहते हैं कि पाकज क्रिया के द्वारा। इसे पीलुपाक क्रिया भी कहते हैं। अर्थात् अग्नि या ताप के द्वारा परमाणुओं का संयोजन होता है। दो परमाणु मिलकर द्वयणुक बनते हैं। तीन द्वयणुक से एक त्रयणुक, चार त्रयणुक से एक चतुर्णुक तथा इस प्रकार स्थूल पदार्थों की निर्मित होती है। वे कुछ समय रहते हैं तथा बाद में पुन: उनका क्षरण होता है और मूल रूप में लौटते हैं।

महर्षि कणाद ने परमाणु को ही अंतिम तत्व माना। कहते हैं कि जीवन के अंत में उनके शिष्यों ने उनकी अंतिम अवस्था में प्रार्थना की कि कम से कम इस समय तो परमात्मा का नाम लें, तो कणाद ऋषि के मुख से निकला पीलव: पीलव: पीलव: अर्थात् परमाणु, परमाणु, परमाणु।

महर्षि कपिल थोड़ा और गहराई में गए तथा कपिल का सांख्य दर्शन जगत् की अत्यंत वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। महर्षि कपिल ने कहा- जिसकी भी कुछ आन्तरिक रचना है उनके भिन्न-भिन्न रूप हैं। अत: निश्चयात्मक रूप से यह जगत् मूल रूप से जिनसे बना है, उसके आकार के बारे में नहीं कह सकते। इतना कह सकते हैं कि वे सूक्ष्म हैं तथा उनका एक विशेष प्रकार का गुण है। अत: उन्होंने कहा- जगत् त्रिगुणात्मक है और ये तीन गुण हैं सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। महर्षि कपिल की व्याख्या आश्चर्यजनक है, वे कहते हैं कि ये तीनों गुण हैं।

(१) लध्वादिधर्म: साधर्म्यं वैधर्यं च गुणानाम् (सांख्य दर्शन-१-१२८)अर्थात् सूक्ष्मता की दृष्टि से इनमें समानता है परन्तु विशेषता या गुण की दृष्टि से इनमें भिन्नता है। गुण क्या हैं? वे कहते हैं-

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्
(सां.द.१-१२७)
प्रीति (ऋद्यद्यद्धड्ड़द्यत्दृद), अप्रीति (ङ्ड्ढद्रद्रथ्द्मत्दृद) तथा विषाद (ग्ड्ढद्रद्यद्धड्ढथ्)- ये भिन्न-भिन्न विशेषता इन गुणों की है।

इसमें भी जो गति होती है वह आकर्षण व विकर्षण के कारण ही होती है। अत: सांख्य दर्शन कहता है-

'रागविरागयोर्योग: सृष्टि:' (सां.द. २-९)
आकर्षण और विकर्षण का योग सृष्टि है। सम्पूर्ण सृष्टि आकर्षण और विकर्षण का ही खेल है और यह सब जिस शक्ति द्वारा होता है उसे क्रिया शक्ति कहा जाता है और समस्त भौतिक शक्तियों का इसमें एकीकरण है।

परन्तु यह सब जानने की जिसमें इच्छा है तथा जिसमें प्रश्न उठते हैं वह मानव, उसका मन, उसके संशय ये सब क्या हैं और अंतिम एकीकरण कहां जाकर होगा, इसका युक्तियुक्त विश्लेषण तथा अनुभव सांख्य के साथ वेदान्त ने किया।

भारत की श्रेष्ठतम देन है - एकात्म विज्ञान दृष्टि

लेखक - सुरेश सोनी

महर्षि कपिल ने कहा कि सृष्टि पूर्व की जो अवस्था है उसमें जब प्रकृति अव्यक्तावस्था में रहती है, तब सभी गुण साम्यावस्था में रहते हैं। यह साम्यावस्था टूटती है मूल तत्व के संकल्प से, जिसका वर्णन उपनिषदों ने किया- एकोऽहं बहुस्याम - यह संकल्प ही इच्छाशक्ति है। इससे गुणों की साम्यावस्था भंग होती है तथा उस अव्यक्त प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है तथा इसी के साथ सृष्टि व्यक्त होने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। उसका प्रथम विकास महत् अथवा विराट् बुद्धि शक्ति के रूप में होता है, यही ज्ञान शक्ति है। एक मूलभूत ज्ञान शक्ति सूक्ष्म परमाणु से लेकर संपूर्ण ब्रह्माण्ड तक का नियमन कर रही है, इसकी पुष्टि निम्न तथ्यों से प्रतीत होती है-

(१) विराट् रचनाओं में आकाश गंगा की रचना सर्पिल भुजाओं (च्द्रत्द्धठ्ठथ् द्मन्थ्र्थ्र्ड्ढद्यद्धन्न् दृढ ठ्ठ ढ़ठ्ठथ्ठ्ठन्त्र) जैसी है। दूसरी ओर सूक्ष्मतम गुणवाहक (क्रड्ढदड्ढ) का भी सर्पिल द्विभुज मॉडल (क्दृद्वडथ्ड्ढ ण्ड्ढथ्त्न् द्मन्द्मद्यड्ढथ्र) है।

(२) 'क्ष्दढत्दत्द्यड्ढ त्द ठ्ठथ्थ् क्त्द्धड्ढड़द्यत्दृद' नामक अपनी पुस्तक में फ्र्ीमैन डायसन कहते हैं, 'एक अद्भुत साम्य आकार की दृष्टि दुनिया में दिखाई देती है। इसे चार संदर्भों में देखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा। (१)सम्पूर्ण दृश्य विश्व (२) हमारी पृथ्वी (३) परमाणु का केन्द्रक या दद्वड़थ्ड्ढद्वद्म (४) अधिसूत्र या च्द्वद्रड्ढद्ध च्द्यद्धत्दढ़। इसमें हमारी पृथ्वी ज्ञात विश्व से १०२० गुना छोटी है। परमाणु केन्द्रक का आकार पृथ्वी के अनुपात में १०२० गुना छोटा है तथा अधिसूत्र परमाणु केन्द्रक से १०२० गुना छोटा है।'

सांख्य कहता है, महत् से अहंकार उत्पन्न होता है, जिसके तीन रूप हैं- वैकारी अहंकार तेजस् अहंकार और भूताहि अहंकार। इनसे पंचतन्मात्रा तथा उनसे विभिन्न इन्द्रियां तथा जगत् के विभिन्न पदार्थ बनते हैं। सृष्टिचक्र गतिमान होता है तथा प्रलय काल में पुन: इसी क्रम से उसका लोप हो जाता है। यह विभिन्न शक्तियां, उनसे सृष्टि का चक्र गतिमान होना, फिर लोप होना, यह क्या है, तो वेदान्त कहता है- 'कम्पनात्' अर्थात् निर्माण या विध्वंस। सबमें कंपन है, स्पंदन है। भगवान बुद्ध कहते हैं सम्पूर्ण जगत प्रकम्पन है- 'सब्बोप्रज्जालितो लोको, सब्बो लोको प्रकम्पितो'। जगत में ठोस जैसा कुछ नहीं है, केवल प्रकम्पन ही है। आदि शंकराचार्य कहते हैं- परमाणु से लेकर ब्रह्मलोक तक तथा सामान्य शक्ति से लेकर प्राणशक्ति तक सब स्पन्दन है। स्वामी विवेकानंद भी कहते थे, 'संपूर्ण जगत कम्पन है, स्पन्दन है। इतना ही है कि मन तीव्र कम्पन है तथा स्थूल या जिसे जड़ कहा जाता है, वह मंद कम्पन है।' ब्रह्माण्ड का सृजन और लोप कम्पन का ही परिणाम है। कम्पन समुद्र की लहरों के समान है। जैसे समुद्र की सतह के ऊपर हलचल रहती है पर नीचे का आधार

शांत रहता है, उसी प्रकार जगत् का मूलाधार ब्रह्म है, कम्पन तो ऊपरी सतह पर है।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड के विवेचन में उन्होंने जाना कि जगत् एवं उस जगत् के द्रष्टा के तीन स्तर हैं। पहला स्थूल जगत है, जिसकी अनुभूति हम जागृत अवस्था में करते हैं। दूसरा सूक्ष्म जगत है, जिसका अनुभव हम स्वप्नावस्था में करते हैं। दोनों जगत् की रचना भिन्न है, जागृत जगत् भौतिक परमाणुओं का समुच्चय है तो स्वप्न जगत भावमय परमाणुओं का। दोनों में काल का मापन भिन्न है, या कह सकते हैं कि सापेक्ष है। एक और तीसरा जगत है जिसे कारण जगत् कहा गया, जिसकी अनुभूति प्रगाढ़ निद्रा में होती है।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड के विविध रूप, विविध शक्तियां तथा इनका द्रष्टा, इन सबका समन्वय निम्न रूप में किया-

तीन जगत्- (१) स्थूल (२) सूक्ष्म (३) कारण
तीन अवस्थाएं- (१) जागृत (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति

तीन शक्तियां- (१) क्रिया (२) ज्ञान (३) इच्छा। ये सभी जिस मूल आधार से उद्भूत हैं, उसे ही ब्रह्म कहा गया। इसकी अनुभूति चतुर्थ अवस्था-तुरीय अवस्था में होती है।
विराट समुद्र की गहराई में निश्चल जल रहता है, पर उसके ऊपर छोटी-बड़ी लहरें उठती हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्म समुद्र में लहरों के समान उठते और विलीन होते रहते हैं। इसी को ब्रह्म कहा गया, अन्तिम सत्य कहा गया तथा जिसके वर्णन की चेष्टा भिन्न-भिन्न रूपों में भारतीय वांगमय में प्राप्त होती है।

(१) 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'
(तै.उ. १२-४-१)
अर्थात्-जहां से वाणी मन सहित लौटकर आ जाती है।

(२) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति
येन यत् प्रयन्त्यभिसंविशंन्ति तद्विजिज्ञासस्व च तद्ब्रह्मेति। (तै.उ.३-१-१)

अर्थात्- जिससे सभी भूत उत्पन्न होते हैं, जिसमें रहते हैं तथा जिसमें विलीन हो जाते हैं, उसे जानो। वही ब्रह्म है।

(३) स यथा उर्णनाभिः तन्तुना उच्यरेत् यथा अग्नेः
क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति एवम् एव अस्मात्
आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाऽ सर्वाँणि
भूतानि व्युच्चरन्ति तस्य उपनिषद् सत्यस्य सत्यं
इति प्राणाः वै सत्यं तेषां एषः सत्यम्।
(बृहदारण्यक उपनिषद् २-१-२०)

अर्थात्- जिस प्रकार मकड़ी के अंदर से जाल निकलता है, जिस प्रकार अग्नि में से छोटे-छोटे स्फुल्लिंग निकलते हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से सभी प्रकार की शक्तियां, सभी प्रकार के लोक, सभी प्रकार के देव तथा सम्पूर्ण स्थूल जगत उत्पन्न होते हैं। उसको जानो, उसके निकट जाओ, वह सत्य का भी सत्य है। मूलभूत ऊर्जा सत्य है, परन्तु वह इसका भी सत्य है।

इस प्रकार भारतीय प्रज्ञा के मत में चेतना के अनंत समुद्र की क्षणिक अभिव्यक्ति ही यह ब्रह्मांड है। अनेक पश्चिमी वैज्ञानिकों ने भी इस विषय में सोचा है। २५ जनवरी, १९३१ के ऑब्जर्वर में जे.डब्ल्यू. एन-सुलिवान द्वारा मैक्सप्लांक से लिया गया साक्षात्कार छपा है। इसमें सुलिवान प्रश्न पूछता है कि क्या चेतना की व्याख्या पदार्थ और उसके नियमों के तहत की जा सकती है? उत्तर में मैक्सप्लांक ने कहा 'मैं ऐसा नहीं सोचता। मेरी दृष्टि में चेतना मौलिक है और पदार्थ उसका परिणाम है। पदार्थ चेतना का विस्तार है।'

स्वामी विवेकानंद ने इसे अलग तरह से अभिव्यक्त किया। वे कहते हैं 'ऐसा लगता है कि चेतना का प्रवाह अभ्यंतर से उत्सर्जित होकर भौतिक दुनिया की ओर सतत प्रवाहित हो रहा है।'

सम्पूर्ण जगत् में निर्जीव व सजीव ऐसा कोई निरपेक्ष विभाजन नहीं हो सकता, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व में एकत्व है। इसे जगदीश चन्द्र बसु ने १० मई, १९०१ को रॉयल इन्स्टीट्यूट में प्रयोगों के द्वारा विश्व के वैज्ञानिकों के समक्ष सिद्ध किया। टीन के टुकड़े पर कॉस्टिक पोटाश की विष उत्पन्नकारी खुराक देने पर उसकी विद्युत धड़कन बंद हुई, जैसे सजीव कोशिका में होती है। साथ ही विष हरणवाली सुई लगाने पर धातु में पुन: सामान्य प्रतिक्रिया आने लगी। इस प्रभाव के अनेक प्रदर्शन के बाद सजीव और निर्जीव की थकावट के इतिहास के स्वत: प्राप्त रिकार्डों के प्रमाण प्रस्तुत कर बोस ने अपना भाषण निम्नलिखित शब्दों में समाप्त किया-

'इस प्रकार के प्राकृतिक तथ्यों में क्या हम भौतिकीय प्रक्रिया और शरीर पर होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया के बीच कोई सीमा रेखा खींच सकते है? ऐसी कोई भी सीमा रेखा नहीं होती।'

'जब मैंने अपने आप बने रिकार्डों के मूक साक्ष्य को देखा और कण, जो प्रकाश की लहरों में कंपित होता है, हमारी पृथ्वी का जीवन और प्रकाशवान सूर्य, जो हमारे ऊपर चमक रहा है, उन सभी वस्तुओं में व्याप्त एकता का अवलोकन किया, तभी मैं पहली बार उस संदेश को कुछ-कुछ समझ सका जिसकी घोषणा मेरे पूर्वजों ने गंगा के सुरम्य तटों पर तीन हजार वर्ष पहले की थी, कि इस विश्व के सभी परिवर्तनशील स्वरूपों में एक ही सत्य है, केवल एक-और कुछ नहीं।'

अन्तिम सत्य जानने का साधन- एक बार अनिश्चितता सिद्धान्त के जनक हीजेनबर्ग ने परमाणु के ग्रहीय मॉडल का प्रतिपादन करने वाले महान विज्ञानी नील्स बोर से पूछा, यदि परमाणु की आन्तरिक बनावट इस प्रकार वर्णनातीत है जैसा आप कह रहे हैं तथा इसे अभिव्यक्त करने के लिए हमारे पास कोई भाषा नहीं है, तो इसे कभी समझ पाने की आशा हम कैसे करें? इस पर कुछ देर चुप रहकर कुछ झिझक के साथ नील्स बोर बोले 'इस सबके बाद भी हम समझ सकते हैं, पर हमें समझने का अर्थ सीखना पड़ेगा।' बोर के इस कथन में गहराई है। यह समझना कैसे होगा। इस सन्दर्भ में

आइंस्टीन का एक वाक्य स्मरण आता है।

किसी ने आइंस्टीन से पूछा कि जगत् की अंतिम वास्तिवकता (रियालिटी) को कैसे जानें, तो आइंस्टीन ने कहा, हम जिन उपकरणों (इन्द्रीय तथा बुद्धि आदि) के द्वारा जगत् को जानने का प्रयत्न करते हैं, वह इस जगत् का ही हिस्सा है। वह भी देश (च्द्रठ्ठड़ड्ड), काल (च्र्त्थ्र्ड्ड) तथा निमित्त (ड़ठ्ठद्वद्मड्ढद्म द्धड्ढथ्ठ्ठद्यत्दृद) की परिधि में हैं तथा सत्य इस परिधि के परे है। अत: उन्होंने कहा-

'ख्द्वथ्द्र ठ्ठडदृध्ड्ढ न्दृद्वद्ध दृध्द्र थ्र्त्दड्ड' अर्थात् अपने मन के परे छलांग लगाओ। पर यह छलांग कैसे लगानी है, यह पश्चिम को ज्ञात नहीं। हमारे यहां की योग साधना तथा अन्यान्य साधना पद्धतियों में देश, काल और निमित्त की परिधि के परे कालातीत अवस्था में पहुंचने की विधि का भी प्रतिपादन किया गया है।

श्वेताश्वर उपनिषद् में वर्णन आता है कि जगत क्या है? उसका कारण क्या है? इसके विश्लेषण में किसी ने काल को कारण माना, किसी ने स्वभाव को, किसी ने आकस्मिक संयोग को, किसी ने प्रकृति को, किसी ने भूत समुच्चय को, किसी ने पुरुष को तो किसी ने इस सबके योग को। पर अंतिम सत्य न मिला, तब क्या किया जाए। इसके उत्तर में उपनिषद् कहता है।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणै र्निग्ढ़ाम्।
य: कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक। (श्वेताश्वर उपनिषद् १-३)

अर्थात् तब उन्होंने ध्यान योग का आश्रय ले, आन्तरिक गहराइयों में उतरकर उस परम शक्ति का साक्षात्कार किया, जो काल सहित इस सम्पूर्ण जगत् का कारण है। और जब यह साक्षात्कार होता है तब हम अनुभव करते हैं कि सब कुछ ज्ञात-अज्ञात उस एक की ही अभिव्यक्ति है तथा सम्पूर्ण जगत्, उसकी शक्तियां, पशु, पक्षी, कीट, पतंगे, वृक्ष, मानव सब उसी एक तत्व के विभिन्न रूप हैं। इस अनुभूति में से एक एकात्मदृष्टि उत्पन्न होती है। यह एकात्म विज्ञान दृष्टि भारत की श्रेष्ठतम देन है, जो जीव और निर्जीव के भेद को समाप्त कर देती है तथा जगत् और उसके सबसे बड़े रहस्य मानव की सभी समस्याओं का समाधान करती है। इस एकात्म विज्ञान दृष्टि की देन दुनिया को भारत ही दे सकता है।

भारत में तर्क व प्रयोगों के प्रति दृष्टि

भारत में हजारों वर्ष पूर्व से विद्या के क्षेत्र में पूर्ण स्वातंत्र्य रहा है। अपने विचारों के कारण यहां किसी को कैद नहीं किया गया, न ही किसी को जिंदा जलाया गया। एक उदाहरण देखें। भारत वर्ष में ज्ञान राशि 'वेद' और उनके द्रष्टा 'ऋषियों' के प्रति पवित्र भाव रहा है। उनके बारे में तथा बनाने वाले के बारे में भौतिकवादी चार्वाकों ने कहा 'त्रयोवेदस्य कर्तार: भण्डधूर्तनिशाचरा:' अर्थात तीनों वेदों को बनाने वाले पाखंडी, धूर्त और निशाचर हैं। ऐसा विकृत वक्तव्य देने पर भी उनके

साथ दुर्व्यवहार नहीं हुआ बल्कि उन्हें भी एक दर्शनकार का स्थान दिया गया।

दूसरा उदाहरण देखें। मुण्डकोपनिषद् में वर्णन आता है कि शौनक नामक एक बड़े गुरुकुल के अधिष्ठाता महर्षि अंगिरा के पास जाते हैं तथा उनसे पूछते हैं, किस तत्व को जानने से सब कुछ जान लिया जाता है? इसके उत्तर में महर्षि अंगिरा कहते हैं- दो विद्याएं हैं जिनसे ज्ञान प्राप्त होता है। एक परा विद्या यानी जिससे परम तत्व का ज्ञान होता है, दूसरी अपरा विद्या जिससे लौकिक व पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है। परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से अपरा विद्या से परा विद्या श्रेष्ठ है। अपरा विद्या की व्याख्या में महर्षि अंगिरा ने कहा- वेद एवं वेदांग अपरा विद्या हैं। वेदों के बारे में यह टिप्पणी उन्होंने की, पर समाज में उनके प्रति पूज्य भाव बना रहा।

हजारों वर्षों से भारत में अंधश्रद्धा या ग्रंथ प्रमाण का अंतिम स्थान नहीं रहा। इसके स्थान पर तर्क और प्रत्यक्ष अनुभव की मान्यता रही। अत: आदि शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य में कहा, यदि सैकड़ों श्रुतियां (ज्ञातव्य है कि उपनिषदों की श्रुतियां साक्षात् अनुभव-जन्य होने से अतर्क्य मानी जाती हैं।) भी कहें कि अग्नि शीतल है और अप्रकाशक है, तो भी वह प्रमाण स्वरूप नहीं मानी जा सकती क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव के विपरीत है। (गीता अ. १८ श्लोक ६६ शांकर भाष्य)

भारत में प्रयोगों के प्रति दृष्टि कैसी थी इसे जानने के लिए भारत की संसद के स्वर्ण जयन्ती अधिवेशन के समय डा. मुरली मनोहर जोशी द्वारा दिये गये भाषण के निम्न अंश दृष्टव्य हैं-

१. 'आज तो हमें यह बताया जाता है कि हर वैज्ञानिक खोज के लिए पश्चिम की ओर देखो। अमरीका में, जर्मनी में क्या हो रहा है? फ्रांस में, जापान में क्या हो रहा है? लेकिन आज से २००-२५० वर्ष पूर्व हालात बिल्कुल उलट थे और आज से १०००-१२००-१५०० वर्ष पूर्व तो हालात और भी उलट थे। इससे पहले कि मैं भारत की प्राचीन वैज्ञानिक परम्पराओं का उल्लेख करूं, मैं यह बताना चाहूंगा कि जो आज यह बताया जाता है कि पश्चिम में ही 'एक्सपेरिमेंटल साइंसेस' पैदा हुई हैं, उन्होंने ही दुनिया को प्रयोग करना सिखाया है, उससे पहले प्रयोगात्मक विज्ञान होता ही नहीं था और अगर हिन्दुस्थान में कोई वैज्ञानिक हुआ करता था तो वह ज्यादा से ज्यादा 'थ्योरीटिशियन' था, जिसने जीरो का आविष्कार कर लिया, 'इनफिनिटी' का आविष्कार कर लिया, भास्कराचार्य ने कुछ गणित के सूत्र निकाल लिए, इसके अलावा प्रायोगिक विज्ञान तो पश्चिम से आया, यह एक निरा भ्रम है। भारत के प्रख्यात वैज्ञानिक आचार्य पी.सी. राय लिखते हैं- विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण संस्था रायल सोसायटी की १६६२ में जब स्थापना हुई तो उसके संस्थापक बायल हुक, क्रिस्टोफर आदि का हॉब्स, लॉक आदि दार्शनिक 'एक्सपेरिमेंटेरियन' कहकर मजाक उड़ाते थे और रायल सोसायटी में घंटों चर्चा का विषय रहता था कि मरी मछली भारी होती है या जिन्दा।

दूसरी ओर भारतवर्ष में क्या हालत थी, इसका उल्लेख करते हुए आचार्य राय उदाहरण देते हैं। हिन्दू रसायन शास्त्र संबंधी दो पुस्तकें हैं। एक रसेन्द्र चिंतामणि तथा दूसरी रसप्रकाश सुधाकर। ये पुस्तकें १३-१४वीं सदी में उत्पन्न रसायन शास्त्री रामचन्द्र तथा यशोधर ने लिखी हैं। इसमें रामचन्द्र कहते हैं, 'मैंने जो कुछ विद्वानों से सुना है और शास्त्रों में पढ़ा है, पर जिसको मैंने स्वयं प्रयोग द्वारा सिद्ध नहीं किया, उसे मैंने इस पुस्तक में नहीं लिखा है। दूसरी ओर अपने अध्यापकों के

योग्य मार्गदर्शन में मैंने अपने स्वयं के हाथों से प्रयोग कर जो सिद्ध किया है केवल वही मैंने इसमें लिखा है।'

आगे रामचन्द्र कहते हैं, 'वास्तविक अध्यापक वह है, जो पढ़ाए हुए विषय को प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा सिद्ध करे और छात्र वह है जो उसे पुन: सिद्ध करे। जो ऐसा करते हैं, वे ही वास्तविक अध्यापक तथा छात्र हैं, बाकी सब तो नाटक के पात्र के समान हैं।'

तेरहवीं सदी में ही हुए यशोधर ने भी अपने ग्रंथ रस प्रकाश सुधाकर में यही व्यक्त किया कि-

स्वहस्तेन कृतं सम्यक् जारणं न श्रुतं मया।
स्वहस्तेन भवयोगेन कृतं सम्यक् श्रुतेन हि॥
धातुबन्धस्तृतीयोऽसौ स्वहस्तेन कृतो मया॥
दृष्ट प्रत्यय योगोऽयं कथितोना च संशय:॥ (रस प्रकाश सुधाकर)

अर्थात- जारण को मैंने केवल सुना नहीं अपितु अपने हाथ से भलीभांति किया है। पूर्वश्रुत ज्ञान के आधार पर सांसारिक पदार्थों के योग से मैंने अपने हाथ से भलीभांति प्रयोग किया है। तत्पश्चात् वह तृतीय धातुरचना मैंने स्वयं ही (अपने हाथ से) सिद्ध की।

२. हमारे यहां जितने संगीत के उपकरण बने, वे सब प्रायोगिक विज्ञान के नमूने हैं। ये मात्र तात्विक या सैद्धान्तिक विश्लेषण नहीं थे, अपितु निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोगों की प्रक्रिया से उद्भूत हुए थे। संगीत के वाद्य ध्वनि की उत्पत्ति, उसके प्रकार, प्रभाव आदि के विश्लेषण और उसके प्रयोग की गाथा है। किस प्रकार की प्रयोगशीलता से इनकी निर्मिति हुई, इसका नमूना है भरत मुनि रचित नाट्यशास्त्र। भरत मुनि के इस ग्रंथ के ३३वें अध्याय में मृदंग और अन्य वाद्य कैसे बने, इसका वर्णन किया गया है। प्राचीन समय में एक गुरुकुल में स्वाति नामक मुनि रहते थे। एक दिन गुरुकुल में अध्ययन अवकाश था और पानी का अभाव था। अत: स्वाति मुनि पानी के लिए निकले। चलते-चलते एक जलाशय के पास पहुंचे। जलाशय में कमल खिले हुए थे। उसके पत्ते तालाब में फैले हुए थे। अचानक बादल घिरे और हवा जोर से चलने लगी और जोरों की वर्षा हुई। पानी की धाराएं धरती पर चारों ओर गिरने लगीं। इन पानी की धाराओं के पत्तों पर गिरने से एक मधुर ध्वनि निकलने लगी। स्वाति मुनि आश्चर्यचकित हो देखने लगे और पत्तों पर पानी गिरने से उत्पन्न मधुर ध्वनि को मंत्रमुग्ध होकर सुनने लगे। जब उसका निरीक्षण करने लगे तो ध्यान में आया कि पत्ते भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, कुछ बड़े हैं, कुछ मध्यम हैं और कुछ छोटे हैं। पत्तों के भिन्न-भिन्न आकार के कारण उन पर गिर रहे पानी से निकलने वाली ध्वनि भी भिन्न-भिन्न थी। बड़े पत्तों से गंभीर ध्वनि निकल रही थी। मध्यम पत्तो से मधुर तथा छोटे पत्तों से हृदय स्पर्शी ध्वनि उद्भूत हो रही थी। इस दृश्य और ध्वनि से वे एकाकार हो गये और गहरे विचार और अनुभूति में डूबे मुनि इन ध्वनियों को अपने हृदय में अनुभव करते हुए उन छोटे, मध्यम और बड़े पत्तों को अपने हाथ में लिए आश्रम लौटे और फिर कृत्रिम रूप से वैसी ध्वनि उत्पन्न करने हेतु प्रयोग प्रारंभ किये। उस हेतु पत्तों पर पानी की धार, फिर धीरे-धीरे अन्य साधनों से उसे उत्पन्न करना और इस प्रक्रिया में मृदंग, प्रणव, और दर्दुर मुरज आदि वाद्य यंत्रों का आविष्कार हुआ। ये

उदाहरण बताते हैं कि भारत में अंधश्रद्धा प्रमाण से ऊपर तर्क को स्थान रहा। विचारों को पूर्ण स्वतंत्रता तथा प्रत्यक्ष प्रयोग करने की परंपरा उस काल से है, जब पश्चिमी जगत में इसकी कल्पना करना स्वप्न में भी संभव नहीं था। अत: अपने देश की वैज्ञानिक परम्पराओं से आज की पीढ़ी को परिचित कराना वह माध्यम है, जिससे देश परानुकरण और हीनताबोध की ग्रंथि से मुक्त होकर स्वावलंबन व स्वाभिमान की अनुभूति कर सकता है।

विज्ञान : पश्चिम व भारतीय धारणा

पाश्चात्य व भारतीय दृष्टि से निम्न तीन प्रश्नों का संक्षिप्त विचार करते हैं:-

(१) विज्ञान माने क्या?

(२) विज्ञान की परिधि कहां तक व्याप्त है?

(३) विज्ञान की अभिव्यक्ति किस रूप में होती है?

पश्चिमी दृष्टि में

(१) कार्ल पियर्सन अपनी पुस्तक 'क्रद्धद्बथ्थ्र्ड्ढद्ध दृढ च्ड़त्ड्ढदड़ड्ढ' में विज्ञान की व्याख्या करते हुए लिखता है 'तथ्यों का विभक्तीकरण, उनकी क्रमबद्धता तथा तुलनात्मक महत्व ही विज्ञान का कार्य है। इन प्राप्त तथ्यों से व्यक्तिगत सीमित अनुभूतियों से निरपेक्ष रह निष्कर्ष प्राप्त करना ही वैज्ञानिक सोच का लक्षण है।' इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिज्ञासा, प्रयोग, निरीक्षण, कारण-मीमांसा तथा निष्कर्ष-इन पांच कड़ियों की श्रृंखला के माध्यम से विज्ञान गतिमान होता है।

(२) विज्ञान की परिधि के संदर्भ में 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका' में कहा गया है 'लैटिन भाषा के शब्द सांयशिया (च्ड़त्ड्ढदद्यत्ड्ढे)' का अर्थ ज्ञान है। इस शब्द का वर्तमान काल में प्रयोग कुछ ऐसे ज्ञान पर होता है जिसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि कोई व्यक्ति उसके एक अंश से अधिक को नहीं समझ सकता। साइंस विषयक ज्ञान नानाविध हैं। यह अन्तर अणुविषयों से लेकर मानसिक क्रियाओं तक फैला हुआ है.... नक्षत्रों के जन्म-मरण से लेकर पक्षियों के स्थानान्तरण तक, सूक्ष्म जीवों से लेकर महान् गैलेक्टिक नेबुलाओं (आकाश गंगा) तक, रवेदार कणों के उत्थान-पतन से लेकर अणुओं और ब्राह्माण्डों के निर्माण और विघटन तक फैला हुआ है। इसमें प्राणियों के कार्य के ज्ञान और विचार करने के नियमों और उनमें विघ्न-बाधाओं का ज्ञान भी सम्मिलित है।

(३) विज्ञान के विकास में दो रूप माने गए। एक प्योर साइंस या शुद्ध विज्ञान तथा दूसरा अप्लाइड साइंस या व्यावहारिक विज्ञान। शुद्ध विज्ञान में ब्रह्माण्ड के अंतिम सत्य एवं उसे संचालित करने वाले नियमों की खोज तथा व्यावहारिक विज्ञान के क्षेत्र में उन नियमों को समझ मानव समाज का जीवनस्तर अधिकाधिक सुविधापूर्ण हो, इस नाते विविध आविष्कार हुए। भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, जीव शास्त्र, धातु विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान, गणित तथा इनकी अनेकानेक शाखाएं।

भारतीय दृष्टि में

(१) भारत में प्रथम परमाणु विज्ञानी महर्षि कणाद अपने वैशेषिक दर्शन के १०वें अध्याय में कहते हैं 'दृष्टानां दृष्ट प्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय' अर्थात् प्रत्यक्ष देखे हुए और अन्यों को दिखाने के उद्देश्य से अथवा स्वयं और अधिक गहराई से ज्ञान प्राप्त करने हेतु रखकर किए गए प्रयोगों से अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त होता है।

इसी प्रकार सामान्य कण से लेकर ब्रह्माण्ड और उनका प्रयोजन जानने के लिए महर्षि गौतम न्याय दर्शन में सोलह चरण की प्रक्रिया बताते हैं। प्रमेय यानी जिसे जानना है। प्रमाण यानी वे साधन जिससे जानने का प्रयत्न करते हैं। संशय यानी जिसके कारण जांच-पड़ताल की जाती है। समाधान के सब अंगों का अलग-अलग जानना अवयव कहलाता है। उसके बाद प्रतिज्ञा यानी हाइपोथिसिस रखी जाती है। फिर हेतु, उदाहरण आदि माध्यम से सत्य तक पहुंचने का प्रयत्न, इस प्रकार की प्रक्रिया बताई गई।

(२) जानने की परिधि का भारतीय वर्णन अधिक स्पष्ट है। यहां कहा गया कि कार्य जगत् याने दृष्यमान जगत् और उसके समस्त व्यापार तथा जगत् का कारण दोनों को जानना चाहिए। आज पश्चिम जगत् को 'आब्जर्व' कर रहा है। पर 'आब्जर्वर' के बारे में अभी उतना नहीं जानते।

गीता के अध्याय ७ में भगवान कृष्ण कहते हैं कि ब्रह्म के समग्र रूप को जानने के लिए ज्ञान-विज्ञान दोनों को जानना चाहिए, क्योंकि इन्हें जानने के बाद कुछ जानना शेष नहीं रहता। आगे वे कहते हैं कि पृथ्वी यानी ठोस, जल यानी द्रव, वायु यानी गैस, अग्नि यानी ऊर्जा, आकाश, मन, बुद्धि व अहंकार तथा यह सब जिसमें है, वह परम चेतन तत्व इस सबके बारे में जानना चाहिए।

इसी प्रकार महर्षि कणाद कहते हैं पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा इन्हें जानना चाहिए। इस परिधि में जड़-चेतन सारी प्रकृति व जीव आ जाते हैं।

(३) ज्ञान-विज्ञान का अंतिम उद्देश्य जगत् के अंतिम कारण की खोज है। इस दृष्टि से अनेक संदर्भों का वेदों, उपनिषदों व दर्शन ग्रंथों में उल्लेख है। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, क्रम तथा लय प्रक्रिया, सृष्टि संचालन के नियमों का उल्लेख आता है। इसी के साथ-साथ व्यावहारिक विज्ञान की दृष्टि से भौतिकी, रसायन तथा वनस्पति शास्त्र, कृषि, गणित, नक्षत्र विज्ञान, जीवन शास्त्र, आयुर्वेद, धातुविज्ञान और विभिन्न कला-कौशल भी अध्ययन व प्रयोग का क्षेत्र था। यह संदर्भ छांदोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय के प्रथम खंड में नारद जी और सनत कुमार के संवाद से ज्ञात होता है। एक बार नारद जी सनत कुमार जी के पास गए और प्रार्थना की कि भगवन्, मुझे ज्ञान दीजिए। तब सनत कुमार जी ने पूछा तुमने क्या पढ़ा है? क्या जानते हो? (छा, ७-१-१) इसके उत्तर में नारद जी कहते हैं, भगवन् मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, इतिहास, पुराणरूप पांचवां वेद, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, ज्योतिष, विधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्म विद्या, भूत विद्या, क्षेत्र विद्या, नक्षत्र विद्या, गारुड़ मंत्र, देवजन विद्या, नृत्य, संगीत, शिल्प-ये सब पढ़ा है। मैं मंत्रवेत्ता हूं पर आत्मवेत्ता नहीं, और कहते हैं कि आत्मवेत्ता दु:ख के समुद्र से पार हो जाता है। अत: वह ज्ञान मुझे दीजिए। (छा. ७-१-२,३)

आगे के पृष्ठों में प्रायोगिक या व्यावहारिक विज्ञान के विविध क्षेत्रों और शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय परम्परा व योगदान

के बारे में जानने का कुछ प्रयत्न करेंगे।

जब हम वेद, उपनिषद्, ब्राह्म, आरण्यक, पुराण, महाभारत, रामायण आदि भारत का प्राचीन साहित्य पढ़ते हैं तो उसमें वर्णित कुछ घटनाएं वैज्ञानिक विकास का आभास देती हैं। जैसे उपनिषद् में वर्णित घटना कि उपमन्यु ् की नेत्र ज्योति जाती है तो अश्विनी कुमार उसे पुन: ज्योति देते हैं। शाण्डिली के पति की मृत्यु पर अनसूया उसे पुन: जीवित करती है। च्यवन ऋषि का वार्धक्य अश्विनी कुमार दूर करते हैं। रावण द्वारा विभिन्न भौतिक शक्तियों पर नियंत्रण, त्रिपुरासुर के तीन नगर जमीन, आसमान व जल पर गतिमान होते थे, पौलुमी आकाशस्थ नगरवासी असुरों से अर्जुन का युद्ध, विभिन्न देवताओं के अंतरिक्ष यान, दिव्यास्त्रों का वर्णन, रामायण में इच्छानुसार चलने वाला पुष्पक विमान आदि पढ़ते हैं, तो चित्र एक विकसित सभ्यता का उभरता है। परन्तु फिर प्रश्न उठता है, क्या ये मात्र कथा-कहानी या कवि कल्पना हैं। क्योंकि यदि ऐसा हुआ था तो उसकी तकनीक क्या थी? इस तकनीक को बताने वाले ग्रंथ हैं क्या? यह जानने का प्रयत्न करने में सबसे बड़ी बाधा है, जो जानकारी है, वह संस्कृत में है और आज भी हजारों, लाखों पांडुलिपियां यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। फिर भी प्रायोगिक विज्ञान के कुछ क्षेत्रों में हुई प्रगति के प्रमाण और कुछ ग्रंथ हैं, जिनसे हम इसे जान सकते हैं।

वैज्ञानिक परम्परा

वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन-अनुसंधान की परम्परा प्राचीन काल से चली आयी है। अनेक ऋषियों ने इसके लिए जीवन खपाया। भृगु, वशिष्ठ, भारद्वाज, अत्रि, गर्ग, शौनक, शुक्र, नारद, चाक्रायण, धुंडीनाथ, नंदीश, कश्यप, अगस्त्य, परशुराम, द्रोण, दीर्घतमस आदि हुए जिन्होंने विमान विद्या, नक्षत्र विज्ञान, रसायन विज्ञान, अस्त्र-शस्त्र रचना, जहाज निर्माण और जीवन के सभी क्षेत्रों में काम किया।

उदाहरण के लिए भृगु अपने शिल्प शास्त्र में शिल्प की परिभाषा करते हुए जो लिखते हैं उससे ज्ञान की परिधि कितनी व्यापक थी, इसकी कल्पना आती है।

नानाविधानां वस्तूनां यंत्राणां कल्पसंपदा
धातुनां साधनानां च वस्तूनां शिल्पसंज्ञितम्।
कृषिर्जलं खनिश्चेति धातुखण्डं त्रिधाभिधम्॥
नौका-रथाग्नियानानां, कृतिसाधनमुच्ये।
वेश्म, प्राकार, नगररचना वास्तु संज्ञितम्॥ (भृगु संहिता-३)

भृगु दस शास्त्रों का उल्लेख करते हैं

(१) कृषि शास्त्र (२) जल शास्त्र (३) खनि शास्त्र (४) नौका शास्त्र (५) रथ शास्त्र

(६) अग्नियान शास्त्र (७) वेश्म शास्त्र (८) प्राकार शास्त्र (९) नगर रचना (१०) यंत्र शास्त्र।

इसके अतिरिक्त ३२ प्रकार की विद्याएं तथा ६४ प्रकार की कलाओं का उल्लेख आता है। इनमें धातु विज्ञान, वस्त्र विज्ञान,

स्वास्थ्य, कृषि, बांध बनाना, वन रोपणी, युद्ध, शस्त्र, पुल बनाना, मुद्रा शास्त्र, नौका रथ, विमान, नगर रचना, गृह निर्माण, स्वास्थ्य, जीवन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, भोजन बनाना, बाल संगोपन, राज्य संचालन, आमोद-प्रमोद आदि सब आते थे। इस विषय सूची को देखकर लगता है, कि इनकी परिधि संपूर्ण जीवन को व्याप्त करने वाली थी। इन विद्याओं के अनेक ग्रंथ थे, कितने ही लुप्त हो गए। कई विद्याएं, जानने वालों के साथ ही लुप्त हो गई क्योंकि हमारे यहां एक मान्यता रही कि अनाधिकारी के हाथ में विद्या नहीं जानी चाहिए। यद्यपि यह सत्य है कि बहुत-सा ज्ञान लुप्त हो गया, परन्तु आज भी लाखों पांडुलिपियां बिखरी पड़ी हैं। आवश्यकता है उनके अध्ययन, विश्लेषण और प्रयोग की। इस प्रक्रिया से शायद ज्ञान के कई नये क्षेत्र उद्घाटित हो सकते हैं। यहां हम प्राचीन तथा अर्वाचीन काल में भारतीय वैज्ञानिक प्रयोग, परम्परा एवं विकास के कुछ पहलुओं पर विचार करेंगे। इसमें व्यावहारिक विज्ञान की दृष्टि से पहले विचार करेंगे।

कितना वैज्ञानिक है डार्विन का विकासवाद?

लेखक - देवेन्द्र स्वरूप

१२ फरवरी, १८०९ को जन्मे विकासवाद के सिद्धांत के जनक चार्ल्स डार्विन (१८०९-१८८२) के २०० वें जन्मदिवस की चर्चा पूरे विश्व में हो रही है। उनके बारे में विशाल साहित्य का सृजन हो रहा है। अमरीका में विकासवादियों और सृष्टिवादियों के बीच बहस चल रही है। आधुनिक वैज्ञानिकों का एक वर्ग जीन, जैनेटिक सिद्धांत और डी.एन.ए.नामक अत्याधुनिक खोजों के आधार पर विकासवाद को पूर्णतया वैज्ञानिक और अचूक सिद्ध करने का प्रयास कर रहा है। दूसरी तरफ सृष्टिवादी विकासवाद को अपूर्ण व अवैज्ञानिक बता रहे हैं। उनका विश्वास है कि सृष्टि रचना के पीछे कोई 'विवेकपूर्ण योजना' (इंटेलीजेंट डिजाइन) अवश्य विद्यमान है। 'वैज्ञानिक सृष्टिवाद' के समर्थक डार्विन द्वारा प्रतिपादित विकासवाद के किसी भी निष्कर्ष को स्वीकार नहीं करते। १९५७ तक विकासवाद को अमरीकी स्कूलों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित नहीं किया गया। उस समय भी सोवियत संघ द्वारा 'स्पुतनिक' उपग्रह के प्रक्षेपण से वैज्ञानिक स्पर्धा में पिछड़ जाने की चिंता के कारण उसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया। किंतु १९८१ में अमरीका के २७ राज्यों में, जहां सत्ता में रिपब्लिकन पार्टी का बहुमत था, विशेष कानून बनाकर विकासवाद के साथ-साथ सृष्टिवाद का अध्ययन भी अनिवार्य कर दिया गया। इसे लेकर विकासवाद के समर्थकों ने न्यायालय का दरवाजा खटखटाया। उनके तर्क और तथ्यों से प्रभावित होकर अमरीकी फेडरल कोर्ट ने १९८७ में सृष्टिवाद को अवैज्ञानिक घोषित करके इसे विज्ञान के पाठ्यक्रम में न सम्मिलित करने का आदेश दे दिया, पर विवाद बना रहा। गत वर्ष २६ जून, २००८ को लुईसियाना राज्य ने साएंस एजूकेशन एक्ट पास करके पाठ्यक्रम में सृष्टिवाद को पढ़ाने का रास्ता प्रशस्त कर दिया। एक व्यापक सर्वेक्षण के अनुसार केवल ४० प्रतिशत वयस्क अमरीकी विकासवाद के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं, शेष ६० प्रतिशत उसे अस्वीकार करते हैं और सृष्टिवाद को मानते हैं। इसी प्रकार ब्रिटेन में भी एक सर्वेक्षण में पाया गया कि ५१ प्रतिशत लोगों का मत है कि विकासवाद का सिद्धांत पृथ्वी पर जीवन की सम्पूर्ण विविधता और जटिलता का समाधान नहीं कर पाता और इसके पीछे किसी अलौकिक सत्ता की भूमिका अवश्य है। पता नहीं, क्यों पूरे डेढ़ सौ वर्ष तक विकासवाद के सिद्धांत का विरोध करने

के बाद रोमन कैथोलिक चर्च ने हाल ही में घोषणा की है कि इस सिद्धांत का हमारी आस्थाओं से कोई विरोध नहीं है?

हम कौन हैं

हम कौन हैं? कहां से आये हैं? हमारे अस्तित्व का अर्थ क्या है, लक्ष्य क्या है? सृष्टि में इतनी विविधता कैसे और क्यों उत्पन्न हुई? क्या इस विविधता के पीछे कोई एक सूत्र है? इस विविधता का नियमन कौन करता है, कैसे करता है? ये और ऐसे अनेक प्रश्न मानव मस्तिष्क को सभ्यता के आरंभ से ही कुरेदते रहे हैं। सभी चिंतन धाराओं ने इन प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास किया है। वैदिक, बौद्ध, जैन, यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि सभी विचार प्रवाहों ने अपनी-अपनी भाषा में इन प्रश्नों का उत्तर दिया है। ये सभी प्राचीन विचारप्रवाह इस पर एकमत रहे हैं कि सृष्टि चक्र के पीछे जो मूल तत्व है वह जड़ नहीं, चेतन है। वह चेतन तत्व ही प्राणरूप में प्रवाहित हो रहा है। उस चेतन सत्ता को किसी ने ब्रह्म कहा, किसी ने गॉड, किसी ने अल्लाह। किंतु सबने माना कि उस अंतिम अमूर्त्त चेतन तत्व का प्राणी जगत में मूर्त प्रतिनिधि 'मनुष्य' है। किसी ने मनुष्य को उस परम चैतन्य की अनुकृति (इमेज) कहा, किसी ने उसे उसका पुत्र कहा।

भारत के उपनिषद साहित्य में इन प्रश्नों का बहुत अधिक विवेचन हुआ है। केनोपनिषद् पूछता है- किसकी प्रेरणा से यह मन विषयों में गिरता है, किसके द्वारा नियुक्त होकर अन्य सबसे श्रेष्ठ प्राण चलता है, किसके द्वारा क्रियाशील होकर इस वाणी को लोग बोलते हैं, कौन देव है जो आंख और कान को उनके विषयों में नियुक्त करता है? कठोपनिषद् में नचिकेता यम से वर मांगता है कि मुझे इस प्रश्न का उत्तर दीजिए कि यह आत्मा मृत्यु के बाद रहती है या नहीं। प्रश्नोपनिषद में तो कबन्धी कात्यायन पिप्पलाद ऋषि से दो टूक प्रश्न करती है, 'भगवन्! किस प्रसिद्ध और सुनिश्चित कारण विशेष से यह सम्पूर्ण प्रजा नाना रूपों में उत्पन्न होती है।' अगला प्रश्न वैदर्भि भार्गव पूछते हैं, 'भगवन् कुल कितने देवता प्रजा को धारण करते हैं?' उनमें से कौन-कौन इसे प्रकाशित करते हैं, इन सबमें कौन सर्वश्रेष्ठ है? प्रश्नोत्तर को आगे बढ़ाते हुए कौसल्य आश्वालयन पूछते हैं, 'देवताओं में सर्वश्रेष्ठ प्राण किससे उत्पन्न होता है? इस शरीर में कैसे आता है? वह अपने को विभाजित करके किस प्रकार स्थित होता है? किस ढंग से उत्क्रमण करता है? किस प्रकार बाह्य और आंतरिक जगत को धारण करता है? ऐतरेय उपनिषद अव्यक्त से व्यक्त, सृष्टि की उत्पत्ति प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहता है कि 'प्रारंभ में एकमात्र आत्मा ही थी, दूसरा कोई भी चेष्टा करने वाला नहीं था। उसने इच्छा की कि मैं लोगों की रचना करूं। उसने पहले देवताओं (आंख, कान, वाणी आदि) की रचना की, भूख-प्यास का सृजन किया, वे तब अमूर्त्त थे। उन्होंने कहा हमारे निवास के लिए शरीर लाओ। वह सृष्टिकर्त्ता उनके लिए पहले गाय का शरीर लाया, फिर घोड़े का। फिर मनुष्य शरीर लाया तो उन्होंने कहा कि अत्युत्तम है, हम इसी में रहेंगे। पूरा उपनिषद साहित्य इन प्रश्नों को उठाता है और उनके उत्तर देता है। इन सब उत्तरों से एक बात स्पष्ट है कि सृष्टि का आदि तत्व चेतन है (सत् चित् आनंद है) और मनुष्य उसकी सृष्टि में सर्वोत्तम कृति है।

जबरदस्त कुठाराघात

किंतु १८५९ में चार्ल्स डार्विन ने 'ओरिजिन आफ स्पेसीज' नामक पुस्तक प्रकाशित करके विकासवाद का सिद्धांत

प्रकाशित किया, जिसके मूल तत्व निम्नलिखित हैं- थ् इस विविधतापूर्ण दृश्य जगत का आरंभ एक सरल और सूक्ष्म एककोशीय भौतिक वस्तु (सेल या अमीबा) से हुआ है। यही एककोशीय वस्तु कालचक्र से जटिल होते-होते इस बहुमुखी विविधता में विकसित हुई है। जिसके शीर्ष पर मनुष्य नामक प्राणी स्थित है। थ् इस विविधता विस्तार की प्रक्रिया में सतत् अस्तित्व के लिए संघर्ष चलता रहता है। थ् इस संघर्ष में जो दुर्बल हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। जो सक्षम हैं वे बच जाते हैं। इसे प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया कह सकते हैं। थ् प्राकृतिक चयन की इस प्रक्रिया में मानव का अवतरण बंदर या चिम्पाजी की प्रजाति से हुआ है अर्थात् बंदर ही मानवजाति का पूर्वज है। वह ईश्वर पुत्र नहीं है, क्योंकि ईश्वर जैसी किसी अभौतिक सत्ता का अस्तित्व ही नहीं है। १८७१ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि डिसेंट आफ मैन' (मनुष्य का अवरोहण) शीर्षक देकर डार्विन ने स्पष्ट कर दिया मनुष्य ऊपर उठने की बजाय बंदर से नीचे आया है। थ् प्राकृतिक चयन से विभिन्न प्रजातियों के रूपांतरण अथवा लुप्त होने में लाखों वर्षों का समय लगा होगा।

डार्विन की इस प्रस्थापना ने यूरोप के ईसाई मस्तिष्क की उस समय की आस्थाओं पर जबरदस्त कुठाराघात किया। तब तक ईसाई मान्यता यह थी कि सृष्टि का जन्म ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व एक बड़े धमाके (बिग बैंग) के साथ हुआ था। किंतु अब चार्ल्स लायल जैसे भूगर्भ शास्त्री और चार्ल्स डार्विन जैसे प्राणी शास्त्री सृष्टि की आयु को लाखों वर्ष पीछे ले जा रहे थे। यहां यह बताना उपयुक्त रहेगा कि अब विज्ञान ने सृष्टि के आरंभ का समय भारत की मन्वतंर कालगणना द्वारा निर्धारित दो खरब वर्ष के लगभग ही मान लिया है। इस दृष्टि से लायल और डार्विन की खोजों ने यूरोपीय ईसाई मस्तिष्क को बाइबिल की कालगणना की दासता से मुक्त होने में सहायता की।

आहत चर्च

डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत से चर्च भले ही आहत हुआ हो और उसने डार्विन का कड़ा विरोध किया हो किंतु सामान्य यूरोपीय मानस बहुत उत्साहित और उल्लसित हो उठा। तब तक यूरोप की विज्ञान यात्रा देश और काल से आबद्ध भौतिकवाद की परिधि में ही भटक रही थी। भौतिकवाद ही यूरोप का मंत्र बन गया था। पूरे विश्व पर यूरोप का वर्चस्व छाया हुआ था। एशिया और अफ्र्ीका में उसके उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। भापशक्ति के आविष्कार ने जिस औद्योगिक क्रांति को जन्म दिया, स्टीमर आदि यातायात के त्वरित साधनों का आविष्कार किया, उससे यूरोप का नस्ली अहंकार अपने चरम पर था। ऐसे मानसिक वातावरण में डार्विन का प्राकृतिक चयन का सिद्धांत उनके नस्ली अहंकार का पोषक बनकर आया। अस्तित्व के सतत् संघर्ष और योग्यतम की विजय के सिद्धांत को यूरोपीय विचारकों ने हाथों हाथ उठा लिया। एक ओर हर्बर्ट स्पेंसर और टी.एच.हक्सले जैसे नृवंश शास्त्रियों ने इस सिद्धांत को प्राणी जगत से आगे ले जाकर समाजशास्त्र के क्षेत्र में मानव सभ्यता की यात्रा पर लागू किया। तो कार्ल मार्क्स और एंजिल्स ने उसे अपने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग संघर्ष के सिद्धांत के लिए इस्तेमाल किया। जिस वर्ष डार्विन की 'ओरिजन आफ स्पेसीज' पुस्तक प्रकाशित हुई उसी वर्ष मार्क्स की 'क्रिटिक आफ पालिटिकल इकानामी' पुस्तक भी प्रकाश में आयी। डार्विन की पुस्तक को पूरा पढ़ने के बाद मार्क्स ने १९ दिसंबर, १८६० को एंजिल्स को पत्र लिखा कि यह पुस्तक हमारे अपने विचारों के लिए प्राकृतिक इतिहास का अधिष्ठान प्रदान करती है। १६ जनवरी, १८६१ को मार्क्स ने अपने मित्र एफ.लास्सेल को लिखा कि 'डार्विन की पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण है और वह इतिहास से वर्ग संघर्ष के लिए प्राकृतिक-

वैज्ञानिक आधार प्रदान करने की दृष्टि से मुझे उपयोगी लगी है।' १८७१ में 'दि डिसेंट आफ मैन' पुस्तक प्रकाशित होते ही उसके आधार पर एंजिल्स ने लेख लिखा, 'बंदर के मनुष्य बनने में श्रम का योगदान' (दि रोल आफ लेबर इन ट्रांसफार्मेशन आफ एज टु मैन)। मार्क्स पर डार्विन के विचारों का इतना अधिक प्रभाव था कि वह अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'दास कैपिटल' का एक खंड डार्विन को ही समर्पित करना चाहता था, किंतु डार्विन ने १३ अक्तूबर, १८८० को पत्र लिखकर इस सम्मान को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उसे मार्क्स की पुस्तक के विषय का कोई ज्ञान नहीं था। ऐसा नहीं है कि मार्क्स को डार्विन की प्रस्थापनाओं की राजनीतिक पृष्ठभूमि की समझ नहीं थी। मार्क्स ने १५ फरवरी, १८६९ को अपनी दूसरी पुत्री लौरा और उसके पति पाल लाफार्गे को लिखे पत्र में स्वीकार किया था कि अंग्रेजी समाज में उस समय प्रतिस्पर्धा का जो भयंकर उन्माद छाया हुआ था उसी ने डार्विन के 'अस्तित्व के लिए संघर्ष और पशुओं तथा वृक्षों के प्राकृतिक चयन' का विचार पैदा किया। मार्क्स ने आगे लिखा है कि इस महान प्राणीशास्त्री के सिद्धांत का समाजशास्त्री डार्विनवादियों ने दुरुपयोग किया। एक अवैज्ञानिक सिद्धांत के समाजशास्त्रीय दुरुपयोग को जानने के बाद भी मार्क्स और एंजिल्स स्वयं भी उसके मोहजाल में फंस गये। १८७७ में एक अमरीकी नस्ल विज्ञानी लेविस हेनरी मार्गन ने विकासवाद पर आधारित अपनी प्रसिद्ध रचना एंशियेंट सोसायटी (प्राचीन समाज) प्रकाशित की, जिसमें उसने मानव जाति की यात्रा की दिशा पाशविक बर्बरता से सभ्यता की ओर बतायी और इस यात्रा के चार चरण भी निर्धारित किए। मार्क्स की इस पुस्तक की प्रशंसा एंजिल्स ने की और एंजिल्स ने उसके आधार पर १८८४ में अपनी प्रसिद्ध कृति 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' प्रकाशित की। एक अपूर्ण और अवैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर विचारधारा का महल खड़ा करने का परिणाम क्या हो सकता है, यह हम सोवियत संघ और माओ के चीन में मार्क्सवाद के दशाब्दियों लम्बे प्रयोग की विफलता के रूप में देख ही चुके हैं।

प्रस्थापना का खण्डन

पश्चिम की वैज्ञानिक यात्रा भी उन्नीसवीं शताब्दी की भौतिकवादी सीमाओं को लांघकर बहुत आगे जा चुकी है। श्रोडिंगर, रदरफोर्ड, जेम्स जींस, फ्रेड होयल, डेविड बोम, फिट्जोंफ कापरा आदि अनेक वैज्ञानिक देश और काल के परे किसी अतीन्द्रिय सत्ता के अस्तित्व की बात कर रहे हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति से परे ले जाने वाले योग मार्ग की ओर पूरे विश्व का आकर्षण पैदा हो रहा है। भारतीय वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बसु ने वनस्पतियों और खनिज पदार्थों में चेतना के अस्तित्व को प्रत्यक्ष प्रयोगों द्वारा प्रभावित करके दिखाया था। प्राचीन भारतीय मनीषा ने प्राणी जगत की विविधता को रेखांकित करने के लिए ३३ कोटि देवताओं अर्थात् योनियों की बात की थी। उत्पत्ति के आधार पर उन्होंने प्राणी मात्र का वर्गीकरण चार भागों में किया था। १। अण्डज-अण्डे का शुक्राणु से पैदा होने वाले २. जटायुज ३. उदिज्ज-धरती में पैदा होने वाले और ४. स्वेयज-पसीने से पैदा होने वाले। प्राणी उत्पत्ति के ये चारों वर्ण अपरिवर्तनीय हैं। इससे डार्विन की इस मूल प्रस्थापना का खंडन हो जाता है कि पूरे प्राणी और वनस्पति जगत का विस्तार किसी एककोशीय प्राणी से हुआ है। एक ही माता-पिता से उत्पन्न संतान में गुण, क्षमता और प्रतिभा के भारी अंतर का कोई समाधान डार्विन के विकासवाद में नहीं है। संक्षेप में कहना हो तो डार्विन के विकासवाद का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय अहंकार और इन डेढ़ सौ वर्षों में विज्ञान की प्रगति और मानव जाति के अनुभवों के आलोक में मानव तथा सृष्टि के अपूर्ण ज्ञान से हुआ है।

स्मरणीय है कि १८५९ में जब डार्विन ने योग्यतम की विजय का सिद्धांत घोषित किया उस समय अंग्रेज भारतीय महाक्रांति की विफलता को बर्बरता पर सभ्यता की विजय घोषित कर रहे थे और पराभूत भारत से बदले की आग में जल रहे थे। उसका पुनर्मूल्याकंन आवश्यक है।

रसायन शास्त्र : धातु, आसव, तत्व - सब भारतीय सत्य

लेखक - सुरेश सोनी

सायन शास्त्र का सम्बन्ध धातु विज्ञान तथा चिकित्सा विज्ञान से भी है। वर्तमान काल के प्रसिद्ध वैज्ञानिक आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय ने 'हिन्दू केमेस्ट्री' ग्रंथ लिखकर कुछ समय से लुप्त इस शास्त्र को फिर लोगों के सामने लाया। रसायन शास्त्र एक प्रयोगात्मक विज्ञान है। खनिजों, पौधों, कृषिधान्य आदि के द्वारा विविध वस्तुओं का उत्पादन, विभिन्न धातुओं का निर्माण व परस्पर परिवर्तन तथा स्वास्थ्य की दृष्टि में आवश्यक औषधियों का निर्माण इसके द्वारा होता है।

पूर्व काल में अनेक रसायनज्ञ हुए, उनमें से कुछ की कृतियों निम्नानुसार हैं।
नागार्जुन-रसरत्नाकर, कक्षपुटतंत्र, आरोग्य मंजरी, योग सार, योगाष्टक

वाग्भट्ट - रसरत्न समुच्चय
गोविंदाचार्य - रसार्णव
यशोधर - रस प्रकाश सुधाकर
रामचन्द्र - रसेन्द्र चिंतामणि
सोमदेव- रसेन्द्र चूड़ामणि

रस रत्न समुच्चय ग्रंथ में मुख्य रस माने गए निम्न रसायनों का उल्लेख किया गया है-

(१) महारस (२) उपरस (३) सामान्यरस (४) रत्न (५) धातु (६) विष (७) क्षार (८) अम्ल (९) लवण (१०) लौहभस्म।

महारस (१) अभ्रं (२) वैक्रान्त (३) भाषिक (४) विमला (५) शिलाजतु (६) सास्यक (७)चपला (८) रसक

उपरस :- (१) गंधक (२) गैरिक (३) काशिस (४) सुवरि (५) लालक (६) मन: शिला (७) अंजन (८) कंकुष्ठ

सामान्य रस- (१) कोयिला (२) गौरीपाषाण (३) नवसार (४) वराटक (५) अग्निजार (६) लाजवर्त (७) गिरि सिंदूर (८) हिंगुल (९) मुर्दाड श्रंगकम्

इसी प्रकार दस से अधिक विष हैं।

अम्ल का भी वर्णन है। द्रावक अम्ल (च्दृथ्ध्ड्ढदद्य ड्ढड़त्ड्ड) और सर्वद्रावक अम्ल (ड्ढथ्थ् ड्डत्द्मद्मदृथ्ध्त्दढ़ ड्ढड़त्ड्ड)

विभिन्न प्रकार के क्षार का वर्णन इन ग्रंथों में मिलता है तथा विभिन्न धातुओं की भस्मों का वर्णन आता है।

प्रयोगशाला- 'रस-रत्न-समुच्चय' अध्याय ७ में रसशाला यानी प्रयोगशाला का विस्तार से वर्णन भी है। इसमें ३२ से अधिक यंत्रों का उपयोग किया जाता था, जिनमें मुख्य हैं- (१) दोल यंत्र (२) स्वेदनी यंत्र (३) पाटन यंत्र (४) अधस्पदन यंत्र (५) ढेकी यंत्र (६) बालुक यंत्र (७) तिर्यक् पाटन यंत्र (८) विद्याधर यंत्र (९) धूप यंत्र (१०) कोष्ठि यंत्र (११) कच्छप यंत्र (१२) डमरू यंत्र।

प्रयोगशाला में नागार्जुन ने पारे पर बहुत प्रयोग किए। विस्तार से उन्होंने पारे को शुद्ध करना और उसके औषधीय प्रयोग की विधियां बताई हैं। अपने ग्रंथों में नागार्जुन ने विभिन्न धातुओं का मिश्रण तैयार करने, पारा तथा अन्य धातुओं का शोधन करने, महारसों का शोधन तथा विभिन्न धातुओं को स्वर्ण या रजत में परिवर्तित करने की विधि दी है।

पारे के प्रयोग से न केवल धातु परिवर्तन किया जाता था अपितु शरीर को निरोगी बनाने और दीर्घायुष्य के लिए उसका प्रयोग होता था। भारत में पारद आश्रित रसविद्या अपने पूर्ण विकसित रूप में स्त्री-पुरुष प्रतीकवाद से जुड़ी है। पारे को शिव तत्व तथा गन्धक को पार्वती तत्व माना गया और इन दोनों के हिंगुल के साथ जुड़ने पर जो द्रव्य उत्पन्न हुआ, उसे रससिन्दूर कहा गया, जो आयुष्य-वर्धक सार के रूप में माना गया।

पारे की रूपान्तरण प्रक्रिया-इन ग्रंथों से यह भी ज्ञात होता है कि रस-शास्त्री धातुओं और खनिजों के हानिकारक गुणों को दूर कर, उनका आन्तरिक उपयोग करने हेतु तथा उन्हें पूर्णत: योग्य बनाने हेतु विविध शुद्धिकरण की प्रक्रियाएं करते थे। उसमें पारे को अठारह संस्कार यानी शुद्धिकरण प्रक्रिया से गुजरना पड़ता था। इन प्रक्रियाओं में औषधि गुणयुक्त वनस्पतियों के रस और काषाय के साथ पारे का घर्षण करना और गन्धक, अभ्रक तथा कुछ क्षार पदार्थों के साथ पारे का संयोजन करना प्रमुख है। रसवादी यह मानते हैं कि क्रमश: सत्रह शुद्धिकरण प्रक्रियाओं से गुजरने के बाद पारे में रूपान्तरण (स्वर्ण या रजत के रूप में) की सभी शक्तियों का परीक्षण करना चाहिए। यदि परीक्षण में ठीक निकले तो उसको अठारहवीं शुद्धिकरण की प्रक्रिया में लगाना चाहिए। इसके द्वारा पारे में कायाकल्प की योग्यता आ जाती है।

धातुओं को मारना:- विविध धातुओं को उपयोग करने हेतु उसे मारने की विधि का वर्णन किया गया है। प्रयोगशाला में धातुओं को मारना एक परिचित विधि थी। गंधक का सभी धातुओं को मारने में उपयोग होता था। अत: ग्रंथ में गंधक की तुलना सिंह से की गई तथा धातुओं की हाथी से और कहा गया कि जैसे सिंह हाथी को मारता है उसी प्रकार गंधक सब धातुओं को मारता है।

जस्ते का स्वर्ण रंग में बदलना-हम जानते हैं जस्ता (झ्त्दत्त्) शुल्व (तांबे) से तीन बार मिलाकर गरम किया जाए तो पीतल (एद्धड्ढद्मद्म) धातु बनती है, जो सुनहरी मिश्रधातु है। नागार्जुन कहते हैं-

क्रमेण कृत्वाम्बुधरेण रंजित:।
करोति शुल्वं त्रिपुटेन काञ्चनम्॥
(रसरत्नाकार-३)

धातुओं की जंगरोधी क्षमता-गोविन्दाचार्य ने धातुओं के जंगरोधन या क्षरण रोधी क्षमता का क्रम से वर्णन किया है। आज भी वही क्रम माना जाता है।

सुवर्ण रजतं ताम्रं तीक्ष्णवंग भुजङ्गमा:।
लोहकं षडि्वधं तच्च यथापूर्व तदक्षयम्॥
(रसार्णव-७-८९-१०)

अर्थात् धातुओं के अक्षय रहने का क्रम निम्न प्रकार से है- सुवर्ण, चांदी, ताम्र, वंग, सीसा, तथा लोहा। इसमें सोना सबसे ज्यादा अक्षय है।

तांबे से मथुर तुत्ता
(ड़दृद्रद्रड्ढद्ध ग्रद्वथ्द्रण्ठ्ठद्यड्ढ) बनाना-
ताम्रदाह जलैर्योगे जायते
तुत्यकं शुभम्।

अर्थात् तांबे के साथ तेजाब का मिश्रण होता है तो कॉपर सल्फेट प्राप्त होता है।

भस्म:- रासायनिक क्रिया द्वारा धातु के हानिकारक गुण दूर कर उन्हें राख में बदलने पर उस धातु की राख को भस्म कहा जाता है। इस प्रकार मुख्य रूप से औषधि में लौह भस्म (क्ष्द्धदृद), सुवर्ण भस्म (क्रदृथ्ड्ड), रजत भस्म (च्त्थ्ध्ड्ढद्ध), ताम्र भस्म (क्दृद्रद्रड्ढद्ध), वंग भस्म (च्र्त्द), सीस भस्म (ख्र्ड्ढठ्ठड्ड) प्रयोग होता है।

वज्रसंधात (ऋड्डठ्ठथ्र्ठ्ठदद्यत्दड्ढ क्दृथ्र्द्रदृद्वदड्ड)-वराहमिहिर अपनी बृहत् संहिता में कहते हैं-
अष्टो सीसक भागा: कांसस्य द्वौ तु रीतिकाभाग:।
मया कथितो योगोऽयं विज्ञेयो वज्रसड्घात:॥

अर्थात् एक यौगिक जिसमें आठ भाग शीशा, दो भाग कांसा और एक भाग लोहा हो उसे मय द्वारा बताई विधि का प्रयोग करने पर वह वज्रसङ्घात बन जाएगा।
आसव बनाना-

चरक के अनुसार ९ प्रकार के आसव बनाने का उल्लेख है।

१. धान्यासव - ङ्दृदृद्यद्म
२. फलासव-क़द्धद्वत्द्यद्म
३. मूलासव-क्रद्धठ्ठत्दद्म ठ्ठदड्ड द्मड्डड्डड्डद्म
४. सरासव-ज़्दृदृड्ड
५. पुष्पासव-क़थ्दृध्ड्डद्धद्म
६. पत्रासव-थ्ड्डठ्ठध्ड्डद्म
७. काण्डासव-द्मद्यड्डथ्द्म (च्द्यठ्ठड़त्त्म)
८. त्वगासव-एठ्ठद्धत्त्म
९. शर्करासव-च्द्धढ़ड्डद्ध

इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के गंध, इत्र सुगंधि के सामान आदि का भी विकास हुआ था।

ये सारे प्रयोग मात्र गुरु से सुनकर या शास्त्र पढ़कर नहीं किए गए। ये तो स्वयं प्रत्यक्ष प्रयोग करके सिद्ध करने के बाद कहे गए हैं। इसकी अभिव्यक्ति करते हुए अनुमानत: १३वीं सदी के रूद्रयामल तंत्र के एक भाग रस कल्प में रस शास्त्री कहता है।

इति सम्पादितो मार्गो द्रुतीनां पातने स्फुट:
साक्षादनुभवैर्दृष्टों न श्रुतो गुरुदर्शित:
लोकानामुपकाराएतत् सर्वें निवेदितम्
सर्वेषां चैव लोहानां द्रावणं परिकीर्तितम्-
(रसकल्प अ.३)

अर्थात् गुरुवचन सुनकर या किसी शास्त्र को पढ़कर नहीं अपितु अपने हाथ से इन रासायनिक प्रयोगों और क्रियाओं को सिद्धकर मैंने लोक हितार्थ सबके सामने रखा है।

प्राचीन रसायन शास्त्रियों की प्रयोगशीलता का यह एक प्रेरणादायी उदाहरण है।

धातु विज्ञान का चमत्कार

लेखक - सुरेश सोनी

धातु विज्ञान का भारत में प्राचीन काल से व्यावहारिक जीवन में उपयोग होता रहा है। यजुर्वेद के एक मंत्र में निम्न उल्लेख आया है-

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च में पर्वताश्च में सिकताश्च में वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च में श्यामं च मे लोहं च मे सीस च में त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् (कृ.यजु. ४-७-५)

मेरे पत्थर, मिट्टी, पर्वत, गिरि, बालू, वनस्पति, सुवर्ण, लोहा लाल लोहा, ताम्र, सीसा और टीन यज्ञ से बढ़ें।

रामायण, महाभारत, पुराणों, श्रुति ग्रंथों में भी सोना (सुवर्ण, हिरण्य), लोहा (स्याम), टिन (त्रपु), चांदी (रजत), सीसा, तांबा, (ताम्र), कांसा आदि का उल्लेख आता है।

धातु विज्ञान से सम्बंधित व्यवसाय करने वाले कुछ लोगों के नाम-
कर्मरा- कच्ची धातु गलाने वाले
धमत्र - भट्टी में अग्नि तीव्र करने वाले
हिरण्यक - स्वर्ण गलाने वाले
खनक - खुदाई कर धातु निकालने वाले।

चरक, सुश्रुत, नागार्जुन ने स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौह, अभ्रक, पारा आदि से औषधियां बनाने की विधि का विस्तार से अपने ग्रंथों में वर्णन किया है। केवल प्राचीन ग्रंथों में ही विकसित धातु विज्ञान का उल्लेख नहीं मिलता, अपितु उसके अनेक प्रमाण आज भी उपलब्ध होते हैं। कुछ उदाहरण-

(१) जस्ता- (इत्दड़) धातु विज्ञान के क्षेत्र में जस्ते की खोज एक आश्चर्य है। आसवन प्रक्रिया (क्त्द्मद्यत्थ्ठ्द्यत्दृद द्रद्धदृड़ड्ढद्मद्म) के द्वारा कच्चे जस्ते से शुद्ध जस्ता निकालने की प्रक्रिया निश्चय ही भारतीयों के लिए गर्व का विषय है। राजस्थान के 'जवर' क्षेत्र में खुदाई के दौरान ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में इसके निर्माण की प्रक्रिया के अवशेष मिले हैं। मात्र दस फीसदी जस्ते से पीतल सोने की तरह चमकने लगता है। जवर क्षेत्र की खुदाई में जो पीतल की वस्तुएं प्राप्त हुई हैं उनका रासायनिक विश्लेषण करने पर पाया गया कि इनमें जस्ते की मात्रा ३४ प्रतिशत से अधिक है, जबकि आज की ज्ञात विधियों के अनुसार सामान्य स्थिति में पीतल में २८ प्रतिशत से अधिक जस्ते का सम्मिश्रण नहीं हो पाता है।

जस्ते को पिघलाना भी एक जटिल प्रक्रिया है, क्योंकि सामान्य दबाव में यह ९१३०से. तापक्रम पर उबलने लगता है। जस्ते के आक्साइड या कच्चे जस्ते से शुद्ध जस्ता प्राप्त करने के लिए उसे १२०००से. तापक्रम आवश्यक है, लेकिन इतने तापक्रम पर जस्ता भाप बन जाता है। अत: उस समय पहले जस्ते का आक्साइट बनाने के लिए कच्चे जस्ते को भूंजते थे, फिर भुंजे जस्ते को कोयला व अपेक्षित प्रमाण में नमक मिलाकर मिट्टी के मटकों में तपाया जाता था तथा ताप १२०००से पर बनाए रखा जाता था। इस पर वह भाप बन जाता था, परन्तु भारतीयों ने उस समय विपरीत आसवनी नामक प्रक्रिया विकसित की थी। इसके प्रमाण जवर की खुदाई में मिले हैं। इसमें कार्बन मोनोआक्साइड के वातावरण में जस्ते के आक्साइड भरे पात्रों को उल्टे रखकर गर्म किया जाता था। जैसे ही जस्ता भाप बनता, ठीक नीचे रखे ठंडे स्थान पर पहुंच कर धातु रूप में आ जाता था और इस प्रकार शुद्ध जस्ते की प्राप्ति हो जाती थी। जस्ते को प्राप्त करने की

यह विद्या भारत में ईसा के जन्म से पूर्व से प्रचलित रही।

यूरोप के लोग १७३५ तक यह मानते थे कि जस्ता एक तत्व के रूप में अलग से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यूरोप में सर्वप्रथम विलियम चैम्पियन ने जस्ता प्राप्त करने की विधि ब्रिस्टल विधि के नाम से पेटेंट करवाई और यह नकल उसने भारत से की, क्योंकि तेरहवीं सदी के ग्रंथ रसरत्नसमुच्चय में जस्ता बनाने की जो विधि दी है, ब्रिस्टल विधि उसी प्रकार की है।

(२) लोहा- (क्ष्द्धदृद) इतिहास में भारतीय इस्पात की श्रेष्ठता के अनेक उल्लेख मिलते हैं। अरब और फारस में लोग भारतीय इस्पात की तलवार के लिए लालायित रहते थे। अंग्रेजों ने सर्वाधिक कार्बन युक्त इस्पात को बुट्ज नाम दिया। प्रसिद्ध धातु वैज्ञानिक तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो. अनंतरमन ने इस्पात बनाने की सम्पूर्ण विधि बताई है। कच्चे लोहे, लकड़ी तथा कार्बन को मिट्टी की प्यालियों में १५३५०से. ताप पर गर्म कर धीरे-धीरे २४ घण्टे में ठण्डा करने पर उच्च कार्बन युक्त इस्पात प्राप्त होता है। इस इस्पात से बनी तलवार इतनी तेज तथा मजबूत होती है कि रेशम को भी सफाई से काट देती है।

१८वीं सदी में यूरोपीय धातु विज्ञानियों ने भारतीय इस्पात बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहे। माइकेल फैराडे ने भी प्रयत्न किया, पर असफल रहा। कुछ ने बनाया तो उसमें वह गुणवत्ता नहीं थी।

श्री धर्मपाल जी ने अपनी पुस्तक क्ष्दड्डत्ठ्ठद ह्मड़त्ड्ढदड़ड्ढ ठ्ठदड्ड द्यड्ढड़ण्ददृथ्दृढ़न्र त्द द्यण्ड्ढ ड्ढत्ढ़ण्द्यड्ढड्ढदद्यण् ड़ड्ढदद्यद्वद्धन्र में यूरोपीय लोगों ने जो प्रगत लौह उद्योग के प्रमाण दिए हैं, उनका उल्लेख किया है। सितम्बर, १७१५ को डा. बेंजामिन हायन ने जो रपट ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भेजी, उसमें वह उल्लेख करता है कि रामनाथ पेठ (तत्कालीन मद्रास प्रान्त में बसा) एक सुन्दर गांव है। यहां आस-पास खदानें हैं तथा ४० इस्पात की भट्टियां हैं। इन भट्टियों में इस्पात निर्माण के बाद उसकी कीमत २ रु. मन पड़ती है। अत: कम्पनी को इस दिशा में सोचना चाहिए।

दूसरी रपट मेजर जेम्स फ्र्ंकलिन की है जिसमें वह सेंट्रल इंडिया में इस्पात निर्माण के बारे में लिखता है। इसमें वह जबलपुर, पन्ना, सागर आदि स्थानों की लौह खदानों का वर्णन करता है तथा इस्पात बनाने की प्रक्रिया के बारे में वह कहता है चारकोल सारे हिन्दुस्तान में लोहा बनाने के काम में प्रयुक्त होता है। जिस भट्टी (क़द्वद्धदठ्ठड़ड्ढ) का उल्लेख करता है, उसका निर्माण किया गया है। उसमें सभी भाग बराबर औसत १९-२० क्द्वडत्द्य (क्द्वडत्द्य-लम्बाई मापने की प्राचीन इकाई, लगभग १८ इंच इसका माप था) के थे। और १६ छोटी क्द्वडत्द्य के थे। वह इस फर्नेस को बनाने की विधि का वर्णन करता है। फर्नेस बनाने पर उसके आकार को वह नापता है तो पूरी भट्टी में वह पाता है कि एक ही प्रकार की नाप है। लम्बाई सवा ४ भाग तो चौड़ाई ३ भाग होगी और मोटाई डेढ़ भाग। आगे वह लिखता है (१) गुडारिया (२) पचर (३) गरेरी तथा (४) अकरिया-ये उपांग इसमें लगाए जाते हैं। बाद में जब भट्टी पूरी तरह सूख जाती है तो उसे काम में लाया जाता है। भट्टी के बाद धोंकनी (एथ्दृध्र) उसका मुंह (ग़्दृन्न्न्न्थ्ड्ढ) बनाने की विधि, उसके बाद भट्टी से जो कच्चा लोहा निकलेगा उसे शुद्ध करने की रिफायनरी का वर्णन करता है। फिर उससे इस्पात बनाने की प्रक्रिया तथा मात्रा का

निरीक्षण उसने ३० अप्रैल, १८२७ से लेकर ६ जून, १८२७ तक किया। इस बीच ४ फरनेस से २२३५ मन इस्पात बना और इसकी विशेषता गुणवत्ता तथा विभिन्न तापमान एवं परिस्थिति में श्रेष्ठता की वह मुक्तकंठ से प्रशंसा करता है। उस समय एक मन की कीमत पौने बारह आना थी। सवा ३१ मन उ १ इंग्लिश टन।

मेजर जेम्स फ्रैंकलिन सागरमिंट के कप्तान प्रेसग्रेव का हवाला देते हुए कहता है कि भारत का सरिया (लोहा) श्रेष्ठ स्तर का है। उस स्वीडन के लोहे को भी वह मात देता है जो यूरोप में उस समय सर्वश्रेष्ठ माना जाता था।

तीसरी रपट कैप्टन डे. कैम्पबेल की है जो १८४२ की है। इसमें दक्षिण भारत में लोहे के निर्माण का वर्णन है। ये सब रपट कहती हैं कि उस समय देश में हजारों छोटी-छोटी इस्पात निर्माण की भट्टियां थीं। एक भट्टी में ९ लोगों को रोजगार मिलता था तथा उत्कृष्ट प्रकार का सस्ता लोहा बनता था। वैसा दुनिया में अन्य किसी देश में संभव नहीं था। कैम्पबेल ने रेलगाड़ी में लगाने के लिए बार आयरन की खोज करते समय बार-बार कहा, यहां का (भारत का) बार आरयन उत्कृष्ट है, सस्ता है। इंग्लैण्ड का बढ़िया लोहा भी भारत के घटिया लोहे का मुकाबला नहीं कर सकता। उस समय ९० हजार लोग इन भट्टियों में काम करते थे। अंग्रेजों ने १८७४ में बंगाल आयरन कंपनी की स्थापना कर बड़े पैमाने पर उत्पादन चालू किया। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे गांव-गांव में बनने वाले इस्पात की खपत कम होती गई और उन्नीसवीं सदी के अन्त तक स्वदेशी इस्पात बनना लगभग बंद हो गया। अंग्रेजों ने बड़े कारखाने लगाकर स्वदेशी प्रौद्योगिकी की कमर तोड़ दी। इसका दु:खद पक्ष यह है कि भारतीय धातु प्रौद्योगिकी लगभग लुप्त हो गई। आज झारखंड के कुछ वनवासी परिवारों में इस तकनीक के नमूने मात्र रह गए हैं।

दिल्ली स्थित लौह स्तंभ एक चमत्कार

नई दिल्ली में कुतुबमीनार के पास लौह स्तंभ विश्व के धातु विज्ञानियों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। लगभग १६००० से अधिक वर्षों से यह खुले आसमान के नीचे सदियों से सभी मौसमों में अविचल खड़ा है। इतने वर्षों में आज तक उसमें जंग नहीं लगी, यह बात दुनिया के लिए आश्चर्य का विषय है। जहां तक इस स्तंभ के इतिहास का प्रश्न है, यह चौथी सदी में बना था। इस स्तम्भ पर संस्कृत में जो खुदा हुआ है, उसके अनुसार इसे ध्वज स्तंभ के रूप में खड़ा किया गया था। चन्द्रराज द्वारा मथुरा में विष्णु पहाड़ी पर निर्मित भगवान विष्णु के मंदिर के सामने इसे ध्वज स्तंभ के रूप में खड़ा किया गया था। इस पर गरुड़ स्थापित करने हेतु इसे बनाया गया होगा, अत: इसे गरुड़ स्तंभ भी कहते हैं। १०५० में यह स्तंभ दिल्ली के संस्थापक अनंगपाल द्वारा लाया गया।

इस स्तंभ की ऊंचाई ७३५.५ से.मी. है। इसमें से ५० सेमी. नीचे है। ४५ से.मी. चारों ओर पत्थर का प्लेटफार्म है। इस स्तंभ का घेरा ४१.६ से.मी. नीचे है तथा ३०.४ से.मी. ऊपर है। इसके ऊपर गरुड़ की मूर्ति पहले कभी होगी। स्तंभ का कुल वजन ६०९६ कि.ग्रा. है। १९६१ में इसके रासायनिक परीक्षण से पता लगा कि यह स्तंभ आश्चर्यजनक रूप से शुद्ध इस्पात का बना है तथा आज के इस्पात की तुलना में इसमें कार्बन की मात्रा काफी कम है। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के मुख्य रसायन शास्त्री डा. बी.बी. लाल इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि इस स्तंभ का निर्माण गर्म लोहे के २०-३० किलो को टुकड़ों को जोड़ने से हुआ है। माना जाता है कि १२० कारीगरों ने पन्द्रह दिनों के परिश्रम के बाद इस स्तम्भ का निर्माण किया। आज से सोलह सौ वर्ष पूर्व गर्म लोहे के टुकड़ों को जोड़ने की उक्त तकनीक भी आश्चर्य का विषय है, क्योंकि पूरे

लौह स्तम्भ में एक भी जोड़ कहीं भी दिखाई नहीं देता। सोलह शताब्दियों से खुले में रहने के बाद भी उसके वैसे के वैसे बने रहने (जंग न लगने) की स्थिति ने विशेषज्ञों को चकित किया है। इसमें फास्फोरस की अधिक मात्रा व सल्फर तथा मैंगनीज कम मात्रा में है। स्लग की अधिक मात्रा अकेले तथा सामूहिक रूप से जंग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ा देते हैं। इसके अतिरिक्त ५० से ६०० माइक्रोन मोटी (एक माइक्रोन याने १ मि.मी. का एक हजारवां हिस्सा) आक्साइड की परत भी स्तंभ को जंग से बचाती है।

(३) पारा (ग्ड्ढड़द्वद्धद्धत्र) यूरोप में १७वीं सदी तक पारा क्या है, यह वे जानते नहीं थे। अत: फ्रांस सरकार के दस्तावेजों में इसे दूसरी तरह की चांदी 'क्विक सिल्वर' कहा गया, क्योंकि यह चमकदार तथा इधर-उधर घूमने वाला होता है। वहां की सरकार ने यह कानून भी बनाया था कि भारत से आने वाली जिन औषधियों में पारे का उपयोग होता है उनका उपयोग विशेषज्ञ चिकित्सक ही करें।
भारतवर्ष में लोग हजारों वर्षों से पारे को जानते ही नहीं थे अपितु इसका उपयोग औषधि विज्ञान में बड़े पैमाने पर होता था। विदेशी लेखकों में सर्वप्रथम अलबरूनी ने, जो ११वीं सदी में भारत में लम्बे समय तक रहा, अपने ग्रंथ में पारे को बनाने और उपयोग की विधि को विस्तार से लिखकर दुनिया को परिचित कराया। पारे को शुद्ध कर उसे उपयोगी बनाने की विधि की आगे रसायनशास्त्र सम्बंधी विचार करते समय चर्चा करेंगे। परन्तु कहा जाता है कि सन् १००० में हुए नागार्जुन पारे से सोना बनाना जानते थे। आश्चर्य की बात यह है कि स्वर्ण में परिवर्तन हेतु पारे को ही चुना, अन्य कोई धातु नहीं चुनी। आज का विज्ञान कहता है कि धातुओं का निर्माण उनके परमाणु में स्थित प्रोटॉन की संख्या के आधार पर होता है और यह आश्चर्य की बात कि पारे में ८० प्रोटॉन-इलेक्ट्रान तथा सोने में ७९ प्रोटॉन-इलेक्ट्रान होते हैं।

(४) सोना-चांदी (क्रदृथ्ड्ड-च्त्थ्ध्ड्ढद्ध) ए.डेल्मर अपनी पुस्तक ऋ क्तत्म्द्यदृद्धत्र दृढ घ्द्धड्ढड़त्दृद्रद्म ग्ड्ढद्यड्ढथ्म-१९०२ ग्ड्ढध्र ड्ढदृद्धत्त् में उल्लेख करता है कि सिन्धु नदी के उद्गम स्थल पर दो त्म्थ्ठ्ठदड्ड हैं जिनका नाम ड़ण्द्धन्म्ड्ढ ठ्ठदड्ड ऋढ़न्द्धड्ढ है और जहां स्वर्ण और रजत के कण वहां की सारी मिट्टी में प्राप्त होते हैं।
ऋग्वेद के छठे मंडल के ६१वें सूक्त का सातवां मंत्र सरस्वती और सिन्धु को हिरण्यवर्तनी कहता है।

रामायण, महाभारत, श्रीमद् भागवद्, रघुवंश, कुमारसंभव आदि ग्रंथों में सोने व चांदी का उल्लेख मिलता है। स्वर्ण की भस्म बनाकर उसके औषधीय उपयोग की परम्परा शताब्दियों से भारत में प्रचलित रही है।

इसी प्रकार सोने, तांबे (क्दृद्रद्रड्ढद्ध) तथा शीशे (ख्ड्ढठ्ठड्ड) के उपयोग के संदर्भ-अथर्ववेद, रसतरंगिणी, रसायनसार, शुक्रनीति, आश्वालायन गृह्यसूत्र, मनु स्मृति में मिलते हैं। रसरत्न समुच्चय ग्रंथ में अनेक धातुओं को भस्म में बदलने की विधि तथा उनका रोगों के निदान में उपयोग विस्तार के साथ लिखा गया है। इससे ज्ञान होता है कि धातु विज्ञान भारत में प्राचीन काल से विकसित रहा और इसका मानव कल्याण के लिए उपयोग करने के लिए विचित्र विधियां भारत में विकसित की गएं।

केरल का धातु दर्पण

डा. मुरली मनोहर जोशी केरल में पत्तनम तिट्टा जिले में आरनमुड़ा नामक स्थान पर गए तो वहां उन्होंने पाया कि वहां के परिवारों में हाथ से धातु के दर्पण बनाने की तकनीक है। इन हाथ के बने धातु दर्पणों को जब उन्होंने विज्ञान समिति के अपने मित्रों को दिखाया तो उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ कि ये दर्पण मशीन से नहीं अपितु हाथ से बने हैं और सदियों से ये दर्पण भारत से निर्यात होते रहे हैं। हम कभी अपने छात्रों को यह नहीं बताते कि हमारे यहां ऐसी तकनीक है कि अभावों में जीकर भी परम्परागत कला लुप्त न हो जाए, इस भावना के कारण आज भी वे इसे छोड़ने को तैयार नहीं। देश को ऐसे लोगों की चिंता करना चाहिए।

प्राचीन भारत में रसायन की परंपरा - १

लेखक - ओम प्रभात अग्रवाल , सेवानिवृत्त अध्यक्ष, रसायन शास्त्र विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

भारत में रसायन शास्त्र की अति प्राचीन परंपरा रही है। पुरातन ग्रंथों में धातुओं, अयस्कों, उनकी खदानों, यौगिकों तथा मिश्र धातुओं की अद्भुत जानकारी उपलब्ध है। इन्हीं में रासायनिक क्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले सैकड़ों उपकरणों के भी विवरण मिलते हैं।

वस्तुत: किसी भी देश में किसी ज्ञान विशेष की परंपरा के उद्भव और विकास के अध्ययन के लिए विद्वानों को तीन प्रकार के प्रमाणों पर निर्भर करना पड़ता है-

१. वहां का प्राचीन साहित्य २. पारंपरिक ज्ञान-जो पीढ़ी दर पीढ़ी जीवित बच जाता हो ३. पुरातात्विक प्रमाण। इस दृष्टि से भारत में रसायनशास्त्र के उद्भव काल के निर्धारण के लिए विशाल संस्कृत साहित्य को खंगालना ही उत्तम जान पड़ता है। उल्लेखनीय है कि भारत में किसी भी प्रकार के ज्ञान के प्राचीनतम स्रोत के रूप में वेदों को माना जाता है। इनमें भी ऐसा समझा जाता है कि ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन है। अर्वाचीन काल में ईसा की अठारहवीं शताब्दी से नये-नये तत्वों की खोज का सिलसिला प्रारंभ हुआ। इसके पूर्व केवल सात धातुओं का ज्ञान मानवता को था। ये हैं-स्वर्ण, रजत, तांबा, लोहा, टिन, लेड (सीसा) और पारद। इन सभी धातुओं का उल्लेख प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है, जिनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद भी सम्मिलित हैं। वेदों की प्राचीनता ईसा से हजारों वर्ष पूर्व निर्धारित की गई है।

इस प्रकार वेदों में धातुओं के वर्णन के आधार पर हम भारत में रसायन शास्त्र का प्रारंभ ईसा से हजारों वर्ष पूर्व मान सकते हैं। उल्लेखनीय है कि उपनिषदों का रचना काल भी यजुर्वेद के आसपास ही माना जाता है जबकि छांदोग्य उपनिषद् में धात्विक मिश्रणन का स्पष्ट वर्णन मिलता है। यदि हम इसे पर्याप्त न मानें और कहें कि केवल रसायन शास्त्र में प्रयुक्त प्रक्रमों एवं रासायनिक क्रियाओं के ज्ञान के समुचित प्रमाण के साथ ही हम रसायन शास्त्र का प्रारंभ मान सकते हैं, तो भी हमें ईसा के एक हजार वर्ष पूर्व के काल (ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी) पर तो सहमत होना ही पड़ेगा। यही वह काल था जब विश्व प्रसिद्ध चरक एवं सुश्रुत संहिताओं का प्रणयन हुआ, जिनमें औषधीय प्रयोगों के लिए पारद, जस्ता, तांबा आदि

धातुओं एवं उनकी मिश्र धातुओं को शुद्ध रूप में प्राप्त करने तथा सहस्त्रों औषधियों के विरचन में व्यवहृत रासायनिक प्रक्रियाओं यथा-द्रवण, आसवन, उर्ध्वपातन आदि का विस्तृत एवं युक्तियुक्त वर्णन मिलता है। नि:संदेह इस प्रकार के ज्ञानार्जन का प्रारंभ तो निश्चित रूप से इसके बहुत पहले से ही हुआ होगा। उल्लेखनीय है कि इन कालजयी ग्रंथों के लेखन के पश्चात, यद्यपि इसी काल में (ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी) में कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' की रचना की जिसमें धातु, अयस्कों, खनिजों एवं मिश्र धातुओं से संबंधित अत्यंत सटीक जानकारी तथा उनके खनन, विरचन, खानों के प्रबंधन तथा धातुकर्म की आश्चर्यजनक व्याख्या मिलती है। भारत में इस प्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान का यह ग्रंथ प्राचीनतम उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्रथम सहस्राब्दी की दूसरी शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक तो ऐसी पुस्तकों की भरमार देखने को मिलती है जो शुद्ध रूप से केवल रसायन शास्त्र पर आधारित हैं और जिनमें रासायनिक क्रियाओं, प्रक्रियाओं का सांगोपांग वर्णन है। इनमें खनिज, अयस्क, धातुकर्म, मिश्र धातु विरचन, उत्प्रेरक, सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक रसायन तथा उनमें काम आने वाले सैकड़ों उपकरणों आदि का अत्यंत गंभीर विवरण प्राप्त होता है।

'भारतीय बौद्धिक संपदा' के फरवरी, २००० के अंक में १९४० में प्रकाशित एक मराठी पुस्तक 'रसमंजरी' (लेखक-टी.जी.काले) के हवाले से ऐसी १२७ पुस्तकों की सूची प्रकाशित है। स्मरणीय है कि इस सूची में चरक एवं सुश्रुत संहिताएं सम्मिलित नहीं हैं। इन पुस्तकों में वर्णित अनेक तथ्य एवं प्रक्रियाएं अब आधुनिक रसायन शास्त्र के मानदंडों पर भी खरी उतरने लगी हैं।

सर्वप्रथम द्वितीय शताब्दी में नागार्जुन द्वारा लिखी गई पुस्तक 'रस रत्नाकार' को लें। ऐसा विश्वास किया जाता है कि छठी शताब्दी में जन्मे इसी नाम के एक बौद्ध रसायनज्ञ ने इस पुस्तक का पुनरावलोकन किया। इसीलिए यह पुस्तक दो रूपों में उपलब्ध है। कुछ भी हो, यह पुस्तक अपने में रसायन का तत्कालीन अथाह ज्ञान समेटे हुए हैं। छठी शताब्दी में ही वराहमिहिर ने अपनी 'वृहत् संहिता' में अस्त्र-शस्त्रों को बनाने के लिए अत्यंत उच्च कोटि के इस्पात के निर्माण की विधि का वर्णन किया है। भारतीय इस्पात की गुणवत्ता इतनी अधिक थी कि उनसे बनी तलवारों के फारस आदि देशों तक निर्यात किये जाने के ऐतिहासिक प्रमाण मिले हैं।

सर्वाधिक पुस्तकें आठवीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी के मध्य लिखी गएं। इनमें से प्रमुख हैं-वाग्भट्ट की अष्टांग हृदय, गोविंद भगवत्पाद की रस हृदयतंत्र एवं रसार्णव, सोमदेव की रसार्णवकल्प एवं रसेंद्र चूणामणि तथा गोपालभट्ट की रसेंद्रसार संग्रह। कुछ अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं-रसकल्प, रसरत्नसमुच्चय, रसजलनिधि, रसप्रकाश सुधाकर, रसेंद्रकल्पद्रुम, रसप्रदीप तथा रसमंगल आदि।

भारत में रसायन की समृद्धशाली प्राचीन परंपरा के पुरातात्विक प्रमाण भी समस्त देशों में बिखरे पड़े हैं। पुरातात्विक स्थलों से प्राप्त धातु आदि के नमूनों के रासायनिक विश्लेषण से जहां उनकी उच्च गुणवत्ता का परिचय मिलता है, वहीं अनेक पदार्थों की कार्बन डेटिंग से प्राचीनता भी अकाट्य रूप से स्थापित होती है। उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम, सभी दिशाओं में ईसा पूर्व ३००० वर्ष से ३०० वर्ष ईसा पूर्व की अवधि में भी सक्रिय रही धातु की खदानों के पुरातात्विक प्रमाण मिले हैं। प्रमुखत: उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, राजस्थान, बंगाल, बिहार, पंजाब, गुजरात आदि राज्यों में

इनका पता चला है। उत्खनन से उजागर हुए नालंदा, हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, लोथल एवं तक्षशिला आदि स्थलों से प्राप्त लोहा, तांबा, रजत, सीसा आदि धातुओं की शुद्धता ९५ से ९९ प्रतिशत तक पाई गई है। इन्हीं स्थलों से पीतल और कांसा, मिश्र धातुएं भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुई है। इनकी शुद्धता इस बात की परिचायक है कि भारत में उच्चकोटि के धातुकर्म की प्राचीन परंपरा रही है। पुरातात्विक स्थलों से धातुकर्म में प्रयुक्त होने वाली जिन भट्ठियों आदि का पता चला है वे सभी संस्कृत पुस्तकों के विवरणों से मेल खाती है। हट्टी की स्वर्ण खदान में ६०० फुट की गहराई पर पाया गया उर्ध्वाधर शाफ्ट तकनीकी के क्षेत्र में भारतीय कौशल का जीता जागता उदाहरण है।

भारत की बहुत सी प्राचीन रसायन परंपराएं पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हुए आधुनिक समय तक जीवित हैं। आज भी हजारों वैद्य चरक द्वारा निर्देशित रीति से धातु आधारित एवं वानस्पतिक स्रोत वाली औषधियों का विरचन कर रहे हैं, जिनके दौरान अनेकानेक रासायनिक प्रक्रियाएं संपादित करनी पड़ती हैं। ईस्वी वर्ष १८०० में भी भारत में, ब्रिटिश दस्तावेजों के अनुसार, विभिन्न धातुओं को प्राप्त करने के लिए लगभग २०,००० भट्ठियां काम करती थीं जिनमें से दस हजार तो केवल लौह निर्माण भट्ठियां थीं और उनमें ८०,००० कर्मी कार्यरत थे। इस्पात उत्पाद की गुणवत्ता तत्कालीन अत्युत्तम समझे जाने वाले स्वीडन के इस्पात से भी अधिक थी। इसके गवाह रहे हैं सागर के तत्कालीन सिक्का निर्माण कारखाने के अंग्रेज प्रबंधक कैप्टन प्रेसग्रेन तथा एक अन्य अंग्रेज मेजर जेम्स फ्रैंकलिन। उसी समय तथा उसके काफी बाद तक लोहे के अतिरिक्त रसायन आधारित कई अन्य वस्तुएं यथा-साबुन, बारूद, नील, स्याही, गंधक, तांबा, जस्ता आदि भी भारतीय तकनीकी से तैयार की जा रही थीं। काफी बाद में अंग्रेजी शासन के दौरान पश्चिमी तकनीकी के आगमन के साथ भारतीय तकनीकी विस्मृत कर दी गई।

प्राचीन भारत में रसायन की परम्परा-२ : आश्चर्यचकित करती हैं भारतीय भट्ठियां

डा. ओम प्रभात अग्रवाल
(सेवानिवृत्त अध्यक्ष, रसायन शास्त्र विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक हरियाणा)

इस लेख के पहले खंड में हमने पढ़ा कि किस प्रकार आज के विद्वानों द्वारा सम्मत सभी तीन मानदंडों पर भारत में रसायन की परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। इसके साथ ही अब समीचीन होगा कि हम प्राचीन भारतीय सैद्धांन्तिक एवं प्रायोगिक रसायन पर विस्तार से चर्चा कर लें।

सैद्धांतिक रसायन शास्त्र का मूलाधार परमाणुओं की प्रकृति का सही ज्ञान एवं उनमें परस्पर बंधता का गुण है। परमाणु संबंधी आधुनिक मान्यता के आदि पुरुष डाल्टन माने जाते हैं। परंतु उनसे बहुत पहले ईसा से ६०० वर्ष पूर्व ही कणाद मुनि ने परमाणुओं के संबंध में जिन धारणाओं का प्रतिपादन किया, उनसे आश्चर्यजनक रूप से डाल्टन की संकल्पना

मेल खाती है। कणाद ने न केवल परमाणुओं को तत्वों की ऐसी लघुतम अविभाज्य इकाई माना जिनमें इस तत्व के समस्त गुण उपस्थित होते हैं बल्कि ऐसी इकाई को 'परमाणु' नाम भी उन्होंने ही दिया तथा यह भी कहा कि परमाणु स्वतंत्र नहीं रह सकते।

कणाद की धारणा

कणाद की परमाणु संबंधी यह धारणा उनके वैशेषिक सूत्र में निहित है। कणाद आगे यह भी कहते हैं कि एक प्रकार के दो परमाणु संयुक्त होकर 'द्विणुक' का निर्माण कर सकते हैं। यह द्विणुक ही आज के रसायनज्ञों का 'वायनरी मालिक्यूल' लगता है। उन्होंने यह भी कहा कि भिन्न भिन्न पदार्थों के परमाणु भी आपस में संयुक्त हो सकते हैं। यहां निश्चित रूप से कणाद रासायनिक बंधता की ओर इंगित कर रहे हैं। वैशेषिक सूत्र में परमाणुओं को सतत गतिशील भी माना गया है तथा द्रव्य के संरक्षण (कन्सर्वेशन आफ मैटर) की भी बात कही गई है। ये बातें भी आधुनिक मान्यताओं के संगत हैं।

रासायनिक बंधता को और अधिक स्पष्ट करते हुए जैन दर्शन में कहा गया है कि कुछ परमाणुओं में स्निग्धता और कुछ में 'रुक्षता' के गुण होते हैं तथा ऐसी भिन्न प्रकृति वाले परमाणु आपस में सहजता से संयुक्त हो सकते हैं जबकि समान प्रकृति के परमाणुओं में सामान्यत: संयोग की प्रवृत्ति नहीं होती। ऐसा आभास होता है कि जैसे आयनी बंधता की व्याख्या की जा रही है।

प्रायोगिक रसायन में काम आने वाले उपकरणों पर भी प्राचीन भारतीय रसायन शास्त्र में विस्तार से चर्चा हुई है। रासायनिक प्रयोगों एवं औषधि विरचन के लिए रसायनज्ञ ३२ कोटि के उपकरणों का प्रयोग अपनी प्रयोगशाला में करते थे, जिनकी सहायता से आसवन, संघनन, ऊर्ध्वपातन, द्रवण आदि सभी प्रकार की क्रियाएं संपादित की जा सकती थीं। इनमें से बहुतों का व्यवहार आज भी औषधि विरचन के लिए वैद्य कर रहे हैं। प्रयोगशालाओं के लेआउट का भी वर्णन रसरत्न समुच्चय में मिलता है। ग्रंथों में अनेक प्रकार की कुंडियों, भट्ठियों, धौंकानियों एवं क्रूसिबिलों के विशद विवरण उपलब्ध हैं। इनकी भिन्नता धातुकर्म अथवा रासायनिक प्रयोगों के लिए उपयुक्त ताप प्रदान करने की उनकी क्षमता के कारण थी। रसरत्न समुच्चय में महागजपुट, गजपुट, वराहपुट, कुक्कुटपुट एवं कपोतपुट भट्ठियों का वर्णन है, जो केवल प्रयुक्त उपलों की संख्या और उनकी व्यवस्था के आधार पर ७५०० से ९००० तक का भिन्न-भिन्न ताप उत्पन्न करने में समर्थ थीं। उदाहरणार्थ, महागजपुट के लिए २०००, परंतु निम्नतम ताप उत्पन्न करने वाली कपोतपुट के लिए केवल ८ उपलों की आवश्यकता पड़ती थी। इनके द्वारा उत्पन्न तापों की भिन्नता आधुनिक तकनीकी द्वारा सिद्ध हो चुकी है। ९००० से भी अधिक ताप के लिए वाग्भट्ट ने चार भट्ठियों का वर्णन किया है- अंगारकोष्ठी, पातालकोष्ठी, गोरकोष्ठी एवं मूषकोष्ठी। पातालकोष्ठी का वर्णन लोहे के धातुकर्म में प्रयुक्त होने वाली आधुनिक 'पिट फर्नेस' से अत्यधिक साम्य रखता है। धातु प्रगलन के लिए भट्ठियों से उच्च ताप प्राप्त करने के लिए भारद्वाज मुनि के वृहद् विमान शास्त्र में ५३२ प्रकार की धौंकनियों का वर्णन किया गया है। इसी ग्रंथ में ४०७ प्रकार की क्रूसिबिलों की भी चर्चा की गई है। इनमें से कुछ के नाम हैं- पंचास्यक, त्रुटि, शुंडालक आदि। सोमदेव के रसेंद्र चूड़ामणि में पारद-रसायन के संदर्भ में जिस ऊर्ध्वपातन यंत्र तथा कोष्ठिका यंत्र का वर्णन है, उसका आविष्कार किसी नंदी नामक व्यक्ति ने किया था।

धातुकर्म कौशल

रसायन के क्षेत्र में विश्व में प्राचीन भारत की प्रसिद्धि मुख्यत: अपने धातुकर्म कौशल के लिए रही है। मध्यकाल में भारत का इस्पात यूरोप, चीन और मध्यपूर्व के देशों तक पहुंचा। इतिहास में दमिश्क की जिन अपूर्व तलवारों की प्रसिद्धि है वे दक्षिण भारत के इस्पात से ही बनाई जाती थीं। आज से १५०० वर्ष पूर्व निर्मित और आज भी जंग से सर्वथा मुक्त दिल्ली के महरौली का स्तंभ भारतीय धातुकर्म की श्रेष्ठता का प्रतीक है। यही बात ब्रिटिश म्यूजियम में रखे बिहार से प्राप्त चौथी शताब्दी की तांबे से बनी बुद्ध की २.१ मीटर ऊंची मूर्ति के बारे में भी कही जा सकती है। भारत में अत्यंत शुद्ध जस्ता एवं पीतल के उत्पादन भी प्रमाणित हैं।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में क़ड्ड, क्द्व, ऋढ़, ऋद्व, घ्ड (लोहा, तांबा, रजत, स्वर्ण, सीसा) एवं च्द (टिन) धातुओं के अयस्कों की सटीक पहचान उपलब्ध है। लोहे के लिए रक्ताभ भूरे हेमेटाइट (सिंधुद्रव) एवं कौवे के अंडे के रंग वाले मैग्नेटाइट (बैक्रुंटक) तांबे के लिए कॉपर पाइराइटिज, मैलाकाइट, एज्यूराइट एवं नेटिव कॉपर, रजत के लिए नेटिव सिल्वर, स्वर्ण के लिए नेटिव गोल्ड, सीसा के लिए रजत अथवा स्वर्ण मिश्रित गैलेना एवं बंग के लिए कैसेटिराइट अयस्कों की उनके रंगों के आधार पर पहचान वर्णित है। संस्कृत साहित्य में पारद के सिनाबार तथा जस्त के कैलामाइन अयस्कों का समुचित वर्णन उपलब्ध है। अर्थशास्त्र में ही अनेकों अयस्कों में मिश्रित कार्बनिक अशुद्धियों से मुक्ति की क्रिया भी वर्णित है। इसके लिए उच्च ताप पर गर्म कर विघटित करने का विधान है। अकार्बनिक अशुद्धियों से मुक्ति के लिए रसरत्न समुच्चय में अयस्क के साथ बाह्य पदार्थ, फ्लक्स को मिलाकर और इस मिश्रण को गर्म कर उन्हें धातुमल के रूप में अलग कर देने का विधान है। धातु विरचन के सभी उत्खनन स्थलों पर ये फ्लक्स प्राप्त हुए हैं। उदाहरणार्थ, सिलिका के निष्कासन के लिए चूना पत्थर का प्रयोग आम बात थी ताकि कैल्सियम सिलिकेट पृथक हो सके। ये सभी बातें आज के धातुकर्म विज्ञान से असंगत हैं। सामान्य धातुओं में लोहे का गलनांक सर्वाधिक है- १५०००। हमारे वैज्ञानिक पूर्वज इस उच्च ताप को उत्पन्न करने में सफल रहे थे। बताया ही जा चुका है कि इसके लिए प्रयुक्त पातालकोष्ठी भट्ठी आज की पिट फर्नेस से मिलती-जुलती थी। अन्य तीन भट्ठियों-अंगारकोष्ठी, मूषकोष्ठी एवं गारकोष्ठी के उपयोग की भी अनुशंसा वाग्भट्ट ने की है। वाग्भट्ट ने ही लौह धातुकर्म के लिए भर्जन एवं निस्पातन क्रियाओं का भी सांगोपांग वर्णन किया है। लौह अयस्क के निस्पातन के लिए हिंगुल (गंधक एवं पारद) का उपयोग किया जाता था तथा भर्जन के लिए छिछली भट्ठियों की अनुशंसा की गई है, जो पूर्णत: वैज्ञानिक है। इन प्रक्रियाओं में आक्सीकृत आर्सेनिक, गंधक, कार्बन आदि मुक्त हो जाते थे तथा फेरस आक्साइड, फेरिक में परिवर्तित हो जाता था। सुखद आश्चर्य की बात है कि रसरत्न समुच्चय में छह प्रकार के कार्बीनीकृत इस्पातों का उल्लेख है। बृहत्त संहिता में लोहे के कार्बोनीकरण की विधि सम्पूर्ण रूप से वर्णित है।

इतिहास-सम्मत तथ्य

यह इतिहास सम्मत तथ्य है कि विश्व में तांबे का धातुकर्म सर्वप्रथम भारत में ही प्रारंभ हुआ। मेहरगण के उत्खनन में तांबे के ८००० वर्ष पुराने नमूने मिले हैं। उत्खनन में ही अयस्कों से तांबा प्राप्त करने वाली भट्ठियों के भी अवशेष मिले हैं तथा फ्लक्स के प्रयोग से लौह को आयरन सिलिकेट के रूप में अलग करने के प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं।

नागार्जुन के रस रत्नाकर में अयस्क सिनाबार से पारद को प्राप्त करने की आसवन विधि वर्णित है। ऐसी ही विधि रसरत्न

समुच्चय तथा सुश्रुत एवं चरक संहिताओं में भी दी गई है तथा आसवन के लिए ढेंकी यंत्र की अनुशंसा की गई है। स्मरणीय है कि इस विधि का आधुनिक विधि से आश्चर्यजनक साम्य है। चरक ने पारद के शोधन की १०८ विधियां लिखी हैं।

गोविंद भागवत्पाद ने अपने रस हृदयतंत्र में पारद को सीसा एवं वंग से पृथक करने की विधि लिखी है। रसार्णवम में वंग के धातुकर्म का वर्णन करते हुए सीसा के धातुकर्म का भी उल्लेख किया गया है। सीसा को अयस्क से प्राप्त करने के लिए हाथी की हड्डियों तथा वंग के लिए भैंसे की हड्डियों के प्रयोग का विधान दिया गया है। स्पष्टत: हड्डियों का कैल्सियम फ्लक्स के रूप में कार्य करते हुए अशुद्धियों को कैल्सियम सिलिकेट धातुमल के रूप में पृथक कर देता था। आज भी आधारभूत प्रक्रिया यही है यद्यपि कैल्सियम को जैविक श्रोत के रूप में न प्रयोग कर अकार्बनिक यौगिक के रूप में मिलाया जाता है। कैसेटिराइट के आक्सीकृत वंग अयस्क के अपचयन के लिए विशिष्ट वनस्पतियों की अनुशंसा की गई है, जो कार्बन के श्रोत का कार्य करती थीं।

अद्भुत मिश्र धातु

जस्त एवं अन्य धातु, जो प्राचीन भारत में अपनी अद्भुत मिश्र धातु निर्माण क्षमता के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण थी, इन्हें कैलेमाइन अयस्क से प्राप्त किया जाता था। इसके धातुकर्म की भट्ठियां, जो राजस्थान में प्राप्त हुई हैं, वे ईसा पूर्व ३००० से २००० वर्ष पूर्व तक की हैं। धातुकर्म में मुख्य पद आसवन का ही है जो आधुनिक समय में भी प्रासांगिक है। रसरत्न समुच्चय में संपूर्ण विधि वर्णित है। स्मरणीय है कि १५९७ में लिबावियस नामक व्यक्ति इसे भारत से लेकर यूरोप पहुंचा। १७४३ में विलियम चैंपियन नामक अंग्रेज ने कैलामाइन अयस्क आधारित धातुकर्म के आविष्कार का दावा करते हुए इसके पेटेंट के लिए प्रार्थना पत्र दिया। परंतु कलई खुल गई और पता चला कि वह समस्त तकनीकी भारत में राजस्थान की जवार खानों से लेकर गया था। इसके लिए उसकी अत्यधिक भर्त्सना की गई।

नागार्जुन के रस रत्नाकर में रजत के धातुकर्म का वर्णन तो विस्मयकारी है। नेटिव सिल्वर (अशुद्ध रजत) को सीसा और भस्म के साथ मिलाकर लोहे की कुंडी में पिघलाइये, शुद्ध रजत प्राप्त हो जाएगा। गैलेना अयस्क, जो रजत और सीसे का एक प्रकार का एलाय है, को तो बिना बाहर से सीसा मिलाए ही गलाये जाने का विधान है। यह विधि आज की क्यूफ्लेशन विधि से आश्चर्यजनक साम्य रखती है। अंतर केवल इतना है कि आज की विधि में क्यूपेल (कुंडी) के अंदर किसी संरंध्र पदार्थ का लेप किया जाता है जबकि प्राचीन काल में बाहर से मिलाई गई भस्म यही कार्य करती थी। दृष्टव्य है कि कौटिल्य के काल में लोहे की कुंडी के स्थान पर खोपड़ी के प्रयोग का वर्णन है। यहां यह खोपड़ी भी संरंध्र पदार्थ का ही कार्य करती थी, जिसमें सीसा अवशोषित हो जाता होगा।

कौटिल्य ने लिखा है कि स्वर्ण को नेटिव रूप में नदियों के जल अथवा चट्टानों से प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी चट्टानें पीताभ अथवा हल्के पीत-गुलाबी रंग की होती हैं और इन्हें तोड़ने पर नीली धरियां दृश्य हो जाती हैं। यह अत्यंत सटीक वर्णन है। अत्यंत शुद्ध धातु की प्राप्ति के लिए जैविक पदार्थों के साथ गर्म करने का विधान है। सीसे के साथ मिलाकर भी शुद्ध करने की अनुशंसा है जो आज की पद्धति में कोई स्थान नहीं रखती।

प्राचीन भारत में रसायन की परम्परा - ३ : हमारे प्राचीन ज्ञान से समृद्ध होगा रसायन शास्त्र

डा. ओम प्रभात अग्रवाल

(सेवानिवृत्त अध्यक्ष, रसायन शास्त्र विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक हरियाणा)

इस श्रृंखला के दूसरे खंड में प्राचीन भारत के रसायनज्ञों के विभिन्न तत्वों के परमाणुओं के मध्य स्थापित हो जाने वाली रासायनिक बंधता के ज्ञान पर प्रकाश डाला गया। साथ ही, प्रायोगिक रसायन में काम आने वाले उपकरणों तथा उस काल में भारतीयों के धातुकर्म कौशल की भी चर्चा की गई। अब इस अंतिम खंड में तत्कालीन रसायनशास्त्र के शेष अन्य पक्षों पर विचार विमर्श करना समीचीन रहेगा।

रसार्णव नामक ग्रंथ में विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले तत्कालीन उत्प्रेरकों, रासायनिक अभिक्रियाओं को तीव्रता प्रदान करने वाले पदार्थ जिनमें से अधिकांश वानस्पतिक श्रोतों से प्राप्त किये जाते थे, का उल्लेख है। इसी ग्रंथ में कॉपर सल्फाइड, मैगनीज डाइऑक्साइड, कॉपर कार्बोनेट आदि यौगिकों के रंग, प्रकृति एवं उनके द्वारा दी जाने वाली लौ के वर्ण आदि की भी सटीक एवं आधुनिक ज्ञान के संगत जानकारी है। रस रत्नाकर में वनस्पतियों से कई प्रकार के अम्ल और क्षार की प्राप्ति की भी विधियां वर्णित हैं।

पेड़-पौधों का रस

अधिकतर आयुर्वेद औषधियां वानस्पतिक श्रोतों अथवा धातुओं से विरचित होती है। इसके लिए चरक ने जहां पेड़-पौधों के रस प्राप्त करने के लिए उन्हें उबालने, आसवन एवं निक्षालन प्रक्रमों को विस्तार से बताया है, वहीं धातुओं की भस्मों (आक्साइड) अथवा माक्षिकों (सल्फाइड) आदि को तैयार करने की विधियों का भी सांगोपांग वर्णन किया है। अत्यंत रोचक बात तो यह है कि भिन्न-भिन्न क्रियाओं के लिए उपयुक्त भिन्न ताप उत्पन्न करने के लिए अलग-अलग वृक्षों की लकड़ियों के उपयोग का विधान किया गया है।

आयुर्वेदिक औषधियों के निर्माण में गंधक का विशेष महत्व है। यह बहुधा प्रकृति में मुक्त अवस्था में उपलब्ध होता है। यद्यपि संयुक्त अवस्था में भी सल्फाइड एवं सल्फेट के रूप में इसके भंडार मिलते हैं। संस्कृत साहित्य में गंधक के तीन प्रकार बताए गए हैं। यद्यपि केवल एक पीला गंधक ही आज के रासायनिक ज्ञान में फिट बैठता है। विभिन्न श्रोतों से प्राप्त गंधक के शुद्धिकरण की जो प्रक्रिया रसार्णव में वर्णित है वह आज के फ्ाश एवं ली ब्लांश विधियों से काफी सीमा तक मिलती जुलती है। रसजलनिधि ग्रंथ में तो शुद्ध अवस्था में गंधक प्राप्त करने की चार विधियां बताई गई हैं।

धातुओं से शीघ्र संयुक्त हो जाने की प्रकृति के कारण ही गंधक को रसजलनिधि में शुल्वारि अथवा धातुओं का शत्रु कहा

गया है।

धातु मिश्रणन

प्राचीन भारतीय रसायनज्ञों को धातु मिश्रणन का भी ज्ञान था। यह छांदोग्य उपनिषद के इस कथन से सिद्ध होता है कि स्वर्ण जोड़ने के लिए सुहागा, चांदी के लिए स्वर्ण एवं वंग के लिए सीसा का प्रयोग किया जाना चाहिए।

प्राचीन भारत में रसायन के सिद्धांतों का ज्ञान इस सीमा तक था कि उन्हें वातावरण में नमी, ऑक्सीजन तथा अनेक अम्लीय अथवा क्षारीय पदार्थों के संपर्क में धातुओं के संक्षारण का तथ्य भी ज्ञात था। याज्ञवल्कय स्मृति में संक्षारित धातुओं को अम्ल अथवा क्षार की सहायता से शुद्ध करने का विधान भी दिया गया है। रसार्णव में यह भी बताया गया है कि वंग, सीसा, लोहा, तांबा, रजत और स्वर्ण में स्वत: संक्षारण की प्रवृत्ति इसी क्रम में घटती जाती है जो आधुनिक रसायनशास्त्र के संगत है।

संक्षारण एवं अन्य प्राकृतिक आक्रमणों से वस्तुओं को दस हजार वर्षों तक सुरक्षित रखने के लिए वराहमिहिर की वृहत संहिता में वज्र लेप एवं वज्र संघट्ट के प्रयोग की अनुशंसा है। वज्र लेप को वानस्पतिक एवं वज्र संघट्ट को जैविक श्रोतों से निर्मित करने की विधियां भी वर्णन की गई हैं। शुक्र नीति में कोयला, गंधक, शोरा, लाल आर्सेनिक, पीत आर्सेनिक, आक्सीकृत सीसा, सिंदूर, इस्पात का चूरा, कपूर, लाख, तारपीन एवं गोंद के भिन्न-भिन्न अनुपातों में मिश्रण को गर्म कर अनेक प्रकार के विस्फोटकों के निर्माण की चर्चा की गई है।

प्राचीन भारतीय रसायन साहित्य में सर्वाधिक समृद्ध अध्याय मिश्र धातुओं का है। पुरातात्विक प्रमाण सिद्ध करते हैं कि ईसाई युग के प्रारंभ के सहस्रों वर्ष पहले से भारतीयों को मिश्र धातुओं और उनके महत्व का ज्ञान था। व्रोंज एवं पीतल के नमूने लगभग सभी उत्खनन स्थलों से प्राप्त हुए हैं और वेदों में भी इनका उल्लेख मिलता है। संस्कृत में तो जस्त का एक नाम सुवर्णकार इसीलिए है क्योंकि उसका संयोग तांबे को स्वर्ण समान धातु (पीतल) में परिवर्तित कर देता है। वस्तुत: वेदों में तथा रसार्णव, अर्थशास्त्र, अष्टाध्यायी एवं रसरत्न समुच्चय आदि ग्रंथों में पीतल को भी सुवर्ण कहकर ही पुकारा गया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चार प्रकार की सिक्का धातुएं वर्णित हैं-मशकम, अर्धमशकम, काकनी एवं अर्धकाकनी। ये सभी रजत, तांबा, लोहा, वंग और सीसा अथवा एंटिमनी को विभिन्न अनुपातों में मिलाकर बनाई जाती थीं। इसी प्रकार चांदी एवं पारद की भी कई वर्णों वाली मिश्र धातुएं बनाई जाती थीं। वंग की भी सोने के वर्ण वाली कई मिश्र धातुएं अभ्रक, तांबा, चांदी और पारे के संयोग से विरचित की जाती थीं। स्वर्ण की तो अनेक मिश्र धातुएं ज्ञात थीं।

स्वर्ण जैसे रंग वाली पीतल धातु तांबे और जस्त के मुख्यत: दो प्रकार के अनुपातों से बनाई जाती थीं और इनके नाम रीतिका एवं काकतुंडी थे। जस्त का मिश्रणन सीधे ही अथवा जस्त अयस्क (कैलामाइन) के रूप में किया जाता था। सीधे कैलामाइन के उपयोग से पीतल निर्माण आज प्रचलित नहीं है। अयस्क वाले पीतल में जस्त २८ प्रतिशत जबकि दूसरे में यह कम ही यानी ६ प्रतिशत होता था और यही पीतल आज के व्रोंज पीतल के समकक्ष ठहरता है। अधिक जस्त वाले

४० प्रतिशत तक कई प्रकार के पीतल भी आजकल तैयार किये जाते हैं। व्रोंज भी आज की भांति कई प्रकार के होते थे जिनमें तांबा ८०-९० प्रतिशत तक हो सकता था। शेष जस्त एवं टिन होता था। मूर्ति निर्माण में पंचलोहा का प्रयोग किया जाता था, जिसमें वंग, तांबा, सीसा, लोहा एवं रजत का मिश्रण होता था (चरक संहिता)। कभी-कभी रजत के स्थान पर पीतल का प्रयोग किया जाता था (रसरत्न समुच्चय)। मंदिरों में आकर्षक ध्वनि उत्पन्न करने वाले घंटे न हों तो मंदिर ही क्या। इनके लिए तांबा और वंग विभिन्न अनुपातों में मिलाए जाते थे। आज के 'बेल मेटल' में भी ८० प्रतिशत सीयू एवं २० प्रतिशत एसएन होता है। कुछ अन्य धातुएं भी लेशमात्र उपस्थित हो सकती है।

शोध की आवश्यकता

विशिष्ट तकनीकी उपयोग के लिए कुछ अत्यंत विचित्र मिश्र धातुएं तैयार की जाती थीं। कुछ के संघटन समझ में आते हैं और कुछ अति प्राचीन संस्कृत नामों के कारण बुद्धि से परे जान पड़ते हैं। इन सभी पर शोध की नितांत आवश्यकता है। रहस्योद्घाटन हो जाने पर मानवता को अपरिमित लाभ होने की पूर्ण संभावना है। भारद्वाज मुनि के वृहद विमान शास्त्रम् में विमान के यात्री कक्ष को शीतल रखने के लिए विद्युत दर्पण नामक यंत्र को तड़ित दर्पण मिश्र धातु से बनाने का विधान है जिसके विरचन के लिए १६ पदार्थों की सूची है। इनमें से अनेक अज्ञात हैं। वैमानिकी में काम आने वाली कुछ अन्य विचित्र सी लगने वाली मिश्र धातुएं इस प्रकार हैं-'एअरोडाइनेमिक कंट्रोल' के कई उपकरणों के लिए अरारा ताम्र धातु का विधान है जिसमें ८४.२प्रतिशत तांबा, १५-१८प्रतिशत वंग एवं ०.०२प्रतिशत सीसा अपेक्षित था। यह मिश्र धातु आज के फॉस्फर व्रोंज से मिलती जुलती है जिसका गलनांक १००० डिग्री होता है। बाजीमुख लौह (लौह तंत्र) कुछ-कुछ फोम की प्रकृति की अत्यंत नरम, पीले रंग की मिश्र धातु है जो ध्वनि शोषक का कार्य करती थी। यह तांबा, आयरन, पायराइटीज, जस्त, सीसा, लोहा, वंग, तांबे की एक श्तेवर्णी मिश्र धातु, पंचानन, अभ्रक एवं सोंठ के मिश्रण से तैयार की जाती थी। शक्ति गर्भ लौह के लिए कांटा (कास्ट आयरन) ३७ प्रतिशत, क्रौंचिका स्टील ३३प्रतिशत तथा सामान्य लौह अथवा कोई भिन्न स्टील ३३ प्रतिशत का मिश्रण अनुशंसित है। इसी प्रकार एक अत्यंत हल्की यद्यपि कठोर मिश्र धातु बैडाल लौह १५ तथा घंटारव लौह १२ पदार्थों के मिश्रण से बनाई जाती थी, जिनमें से अनेक नाम अभी समझने शेष हैं।

शत्रु विमान से बचने के लिए अथवा उन पर आक्रमण के लिए विषैली धूम फेंकने वाले यंत्र के निर्माण के लिए क्षौंडीर लौह मिश्र धातु की अनुशंसा है जिसके निर्माण में पारद, वीरा, क्रौंचिका, कास्ट आयरन, रजत, माध्विकम एवं वंग की आवश्यकता पड़ती थी। त्रिपुर विमान जो संभवत: अंतरिक्ष विमान था, में लगे यंत्रों के निर्माण के लिए अनेक मिश्र धातुओं का वर्णन है जिसमें से एक त्रिनेत्र लौह है जो संभवत: क्रोम वैनेडियम स्टील था-यद्यपि उसका संघटन आज के इस प्रकार के स्टील से भिन्न था।

हमारी रसायन संबंधी विरासत विशाल है। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं के संपादन के लिए आवश्यक रसायन एवं अभिकर्मक वानस्पतिक तथा जैविक स्रोतों से प्राप्त किए जाते थे। उत्प्रेरकों, अम्लों एवं क्षारों पर भी यह बात लागू होती है। इसी कारण प्राचीन भारतीय रसायन का रूप आधुनिक रसायन की अपेक्षा कम प्रदूषणकारी था।

इस लेख का उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि प्राचीन रसायन आज से अधिक समुन्नत और अधिक संभावनाओं से

परिपूर्ण था। यह निर्विवाद है कि आज के युग में रसायनशास्त्र ने अकल्पनीय प्रगति की है। उद्देश्य तो केवल मात्र इस भ्रम का उच्छेद करना है कि हम नितांत अज्ञानी थे। यह तो अब स्पष्ट है कि रसायन के क्षेत्र में हमारी परंपरा अत्यंत प्राचीन और गौरवशाली रही है। साथ ही यह कहना भी समीचीन होगा कि इस पारंपरिक ज्ञान की बहुत सारी अनुद्घाटित बातों पर गहन शोध की अपेक्षा है जिससे आज का रसायनशास्त्र निश्चित रूप से अधिक समृद्धशाली बनेगा।

अगस्त्य संहिता का विद्युत् शास्त्र

राव साहब कृष्णाजी वझे ने १८९१ में पूना से इंजीनियरिंग की परीक्षा पास की। भारत में विज्ञान संबंधी ग्रंथों की खोज के दौरान उन्हें उज्जैन में दामोदर त्र्यम्बक जोशी के पास अगस्त्य संहिता के कुछ पन्ने मिले। यह शक संवत् १५५० के करीब के थे। आगे चलकर इस संहिता के पन्नों में उल्लिखित वर्णन को पढ़कर नागपुर में संस्कृत के विभागाध्यक्ष रहे डा. एम.सी. सहस्रबुद्धे को आभास हुआ कि यह वर्णन डेनियल सेल से मिलता-जुलता है। अत: उन्होंने नागपुर में इंजीनियरिंग के प्राध्यापक श्री पी.पी. होले को वह दिया और उसे जांचने को कहा। अगस्त्य का सूत्र निम्न प्रकार था-

संस्थाप्य मृण्मये पात्रे
ताम्रपत्रं सुसंस्कृतम्।
छादयेच्छिखिग्रीवेन
चार्दाभि: काष्ठापांसुभि:॥
दस्तालोष्टो निधात्वय: पारदाच्छादितस्तत:।
संयोगाज्जायते तेजो मित्रावरुणसंज्ञितम्॥
अगस्त संहिता

इसका तात्पर्य था, एक मिट्टी का पात्र (कठ्ठद्धद्यण्ड्ढद द्रदृद्य) लें, उसमें ताम्र पट्टिका (क्दृद्रद्रड्ढद्ध च्ण्ड्ढड्ढद्य) डालें तथा शिखिग्रीवा डालें, फिर बीच में गीली काष्ट पांसु (ध्ड्ढद्य द्मठ्ठध्र क़्द्वद्मद्य) लगायें, ऊपर पारा (थ्ड्ढद्धड़द्वद्धन्र) तथा दस्त लोष्ट (न्न्त्दड़) डालें, फिर तारों को मिलाएंगे तो, उससे मित्रावरुणशक्ति का उदय होगा।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर श्री होले तथा उनके मित्र ने तैयारी चालू की तो शेष सामग्री तो ध्यान में आ गई, परन्तु शिखिग्रीवा समझ में नहीं आया। संस्कृत कोष में देखने पर ध्यान में आया कि शिखिग्रीवा याने मोर की गर्दन। अत: वे और उनके मित्र बाग गए तथा वहां के प्रमुख से पूछा, क्या आप बता सकते हैं, आपके इ्दृदृ में मोर कब मरेगा, तो उसने नाराज होकर कहा क्यों? तब उन्होंने कहा, एक प्रयोग के लिए उसकी गरदन की आवश्यकता है। यह सुनकर उसने कहा ठीक है। आप एक एप्लीकेशन दे जाइये। इसके कुछ दिन बाद एक आयुर्वेदाचार्य से बात हो रही थी। उनको यह सारा घटनाक्रम सुनाया तो वे हंसने लगे और उन्होंने कहा, यहां शिखिग्रीवा का अर्थ मोर की गरदन नहीं अपितु उसकी गरदन के रंग जैसा पदार्थ कॉपरसल्फेट है। यह जानकारी मिलते ही समस्या हल हो गई और फिर इस आधार पर एक सेल

बनाया और डिजीटल मल्टीमीटर द्वारा उसको नापा। उसका ग्द्रड्ढद क्त्द्धड़द्वत्द्य ध्दृथ्द्यठ्ठढ़ड्ढ था १.३८ ज्दृथ्द्यद्म और च्ण्दृद्धद्य क्त्द्धड़द्वत्द्य क्द्वद्धद्धड्ढदद्य था २३ ग्त्थ्थ्त् ठ्ठथ्द्रड्ढद्धड्ढद्म.

प्रयोग सफल होने की सूचना डा. एम.सी. सहस्रबुद्धे को दी गई। इस सेल का प्रदर्शन ७ अगस्त, १९९० को स्वदेशी विज्ञान संशोधन संस्था (नागपुर) के चौथे वार्षिक सर्वसाधारण सभा में अन्य विद्वानों के सामने हुआ। तब विचार आया कि यह वर्णन इलेक्ट्रिक सेल का है। पर इसका आगे का संदर्भ क्या है इसकी खोज हुई और आगे ध्यान में आया ऋषि अगस्त ने इसके आगे की भी बातें लिखी हैं-

अनने जलभंगोस्ति प्राणो
दानेषु वायुषु।
एवं शतानां कुंभानांसंयोगकार्यकृत्स्मृत:॥
अगस्त संहिता

अगस्त्य कहते हैं सौ कुंभों की शक्ति का पानी पर प्रयोग करेंगे, तो पानी अपने रूप को बदल कर प्राण वायु (ग्न्त्र्ढ़ड्ढद) तथा उदान वायु (क्त्र्ड्डद्धदृढ़ड्ढद) में परिवर्तित हो जाएगा। उदान वायु को वायु प्रतिबन्धक वस्त्र में रोका जाए तो यह विमान विद्या में काम आता है।

वायुबन्धकवस्त्रेण
निबद्धो यानमस्तके
उदान : स्वलघुत्वे बिभर्त्याकाशयानकम्। *(अगस्त्य संहिता शिल्प शास्त्र सार)*

राव साहब वझे, जिन्होंने भारतीय वैज्ञानिक ग्रंथ और प्रयोगों को ढूंढ़ने में अपना जीवन लगाया, उन्होंने अगस्त्य संहिता एवं अन्य ग्रंथों के आधार पर विद्युत भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पन्न होती हैं, इस आधार उसके भिन्न-भिन्न नाम रखे-

(१) तड़ित्-रेशमी वस्त्रों के घर्षण से उत्पन्न।
(२) सौदामिनी-रत्नों के घर्षण से उत्पन्न।
(३) विद्युत-बादलों के द्वारा उत्पन्न।
(४) शतकुंभी-सौ सेलों या कुंभों से उत्पन्न।
(५) हृदनि- हृद या स्टोर की हुई बिजली।
(६) अशनि-चुम्बकीय दण्ड से उत्पन।

अगस्त्य संहिता में विद्युत् का उपयोग इलेक्ट्रोप्लेटिंग के लिए करने का भी विवरण मिलता है। उन्होंने बैटरी द्वारा तांबा या सोना या चांदी पर पालिश चढ़ाने की विधि निकाली। अत: अगस्त्य को कुंभोद्भव (एठ्ठद्यद्यड्ढद्धन्न एदृदड्ढ) कहते हैं।

कृत्रिमस्वर्णरजतलेप: सत्कृतिरुच्यते। -शुक्र नीति
यवक्षारमयोधानौ सुशक्तजलसन्निधो॥
आच्छादयति तत्ताम्रं
स्वर्णेन रजतेन वा।
सुवर्णलिप्तं तत्ताम्रं
शातकुंभमिति स्मृतम्॥ ५ *(अगस्त्य संहिता)*

अर्थात्-कृत्रिम स्वर्ण अथवा रजत के लेप को सत्कृति कहा जाता है। लोहे के पात्र में सुशक्त जल अर्थात तेजाब का घोल इसका सानिध्य पाते ही यवक्षार (सोने या चांदी का नाइट्रेट) ताम्र को स्वर्ण या रजत से ढंक लेता है। स्वर्ण से लिप्त उस ताम्र को शातकुंभ अथवा स्वर्ण कहा जाता है।

मैकेनिक्स (कायनेटिक्स) एवं यंत्र विज्ञान

महर्षि कणाद के वैशेषिक दर्शन में कर्म शब्द का अर्थ ग्दृद्यत्दृद से है। इसके पांच प्रकार हैं।

उत्क्षेपण (छद्रध्ठ्ठद्धड्ड थ्दृद्यत्दृद)
अवक्षेपण (क्दृध्दध्ठ्ठद्धड्ड थ्दृद्यत्दृद)
आकुञ्चन (ग्दृद्यत्दृद ड्डद्रड्ड द्यदृ द्यण्ड्ड
द्धड्डथ्ड्डठ्ठद्मड्ड दृढ द्यड्डदद्मत्थ्ड्ड द्मद्यद्धड्डद्मद्म)
प्रसारण (च्ण्ड्डठ्ठद्धत्दढ़ थ्दृद्यत्दृद)
गमन (क्रड्डदड्डद्धठ्ठथ् च्न्द्रड्ड दृढ थ्दृद्यत्दृद)

विभिन्न कर्म या ग्दृद्यत्दृद को उसके कारण के आधार पर जानने का विश्लेषण वैशेषिक में किया है।

(१) नोदन के कारण-लगातार दबाव
(२) प्रयत्न के कारण- जैसे हाथ हिलाना
(३) गुरुत्व के कारण-कोई वस्तु नीचे गिरती है
(४) द्रवत्व के कारण-सूक्ष्म कणों के प्रवाह से

डा. एन.जी. डोंगरे अपनी पुस्तक च्ण्ड्ढ घ्ण्न्द्मत्ड़द्म में वैशेषिक सूत्रों के ईसा की प्रथम शताब्दी में लिखे गए प्रशस्तपाद भाष्य में उल्लिखित वेग संस्कार और न्यूटन द्वारा १६७५ में खोजे गए गति के नियमों की तुलना करते हैं।

प्रशस्तपाद लिखते हैं 'वेगो पञ्चसु द्रव्येषु निमित्त-विशेषापेक्षात् कर्मणो जायते नियतदिक् क्रिया प्रबंध हेतु: स्पर्शवद् द्रव्यसंयोग विशेष विरोधी क्वचित् कारण गुण पूर्ण क्रमेणोत्पद्यते।' अर्थात् वेग या मोशन पांचों द्रव्यों (ठोस, तरल, गैसीय)

पर निमित्त व विशेष कर्म के कारण उत्पन्न होता है तथा नियमित दिशा में क्रिया होने के कारण संयोग विशेष से नष्ट होता है या उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त प्रशस्तिपाद के भाष्य को तीन भागों में विभाजित करें तो न्यूटन के गति सम्बंधी नियमों से इसकी समानता ध्यान आती है।

(१) वेग: निमित्तविशेषात् कर्मणो जायते

च्ण्ड्रूढ क्ण्ठ्ठदढ़ड्ड दृढ थ्रूदृद्यत्दृद त्म्र ड्डद्रड्ड द्यदृ त्थ्रूद्रद्धड्डम्रम्रड्डड्ड ढदृद्धड़ड्ड (घ्द्धत्दड़त्द्रत्ठ्ठ)

(२) वेग निमित्तापेक्षात् कर्मणो जायते नियत्दिक् क्रिया प्रबंध हेतु

च्ण्ड्रूढ क्ण्ठ्ठदढ़ड्ड दृढ थ्रूदृद्यत्दृद त्म्र द्रद्धदृद्रदृद्धद्यत्दृदठ्ठथ् द्यदृ द्यण्ड्ड थ्रूदृद्यत्ध्ड्ड ढदृद्धड़ड्ड त्थ्रूद्रद्धड्डम्रम्रड्डड्ड ठ्ठदड्ड त्म्र थ्रूठ्ठड्डड्ड त्द द्यण्ड्ड ड्डत्द्धड्डड़द्यत्दृद दृढ द्यण्ड्ड द्धत्ढ़ण्द्य थ्त्दड्ड त्द ध्ण्त्रड़ण् द्यण्ड्ड ढदृद्धड़ड्ड त्म्र त्थ्रूद्रद्धड्डम्रम्रड्डड्ड (घ्द्धत्दड़त्द्रत्ठ्ठ)

(३) वेग: संयोगविशेषाविरोधी

च्रूद्र ड्डध्ड्डद्धन्र ठ्ठड़द्यत्दृद द्यण्ड्डद्धड्ड त्म्र ठ्ठथ्ध्रूठ्ठन्रूम्र ठ्ठद ड्डद्दद्रठ्ठथ् ठ्ठदड्ड दृद्रद्रदृम्रत्द्यड्ड द्धड्डठ्ठड़द्यत्दृद (घ्द्धत्दड़त्द्रत्ठ्ठ)

यहां न्यूटन के गति के नियम दिए तथा वैशेषिक की परिभाषा भी बतायी है कि वेग या क़दृद्धड़ड्ड एक द्रव्य है, जो कर्म या थ्रूदृद्यत्दृद द्वारा उत्पन्न हुआ है।

स्थिति स्थापकता (कथ्ठ्ठम्रद्यत्ड़ ढदृद्धड़ड्डम्र)

कथ्ठ्ठम्रद्यत्ड़त्द्यन्र वास्तव में किसी पदार्थ के उस गुण को दिया गया नाम है, जिस कारण छड़ें-फ्लेट आदि कंपन करते हैं और ध्वनि भी निकलती है। वैशेषिक दर्शनकार इसे जानते थे। उदयन की 'न्याय कारिकावली' नामक ग्रंथ में इसका उल्लेख मिलता है।

स्थितिस्थापकसंस्कार:
क्षित: क्वचिच्चतुर्ष्वपि।
अतीन्द्रियोसौ विज्ञेय:
क्वचित् स्पन्देऽपि कारणम्॥ ५९॥

ठोस या द्रव्य के अन्य प्रकार में द्रव्यों में उत्पन्न अदृश्य बल ही स्पन्दन (ज्त्डद्धठ्ठद्यत्दृद का कारण है।

ई. सन् १११४ में हुए भास्कराचार्य के ग्रंथ 'सिद्धांत शिरोमणि' के गोलाध्याय के यंत्राध्याय के श्लोक ५३ से ५६ तक ध्ड्ढद्यड्ढद्ध ध्ण्ड्ढढड्ढथ् का वर्णन है।

ताम्रादिमयस्यांकुशरूपनलस्याम्बुपूर्णस्य। ५३
एक कुण्डजलान्तर्द्वितीयमग्रं त्वधोमुखं च बहि:
युगापन्मुक्त चेत् क नलेन कुण्डाब्दहि:
पतति ।५४
नेम्यां बद्धवा घटिकाश्च्क्रं जलयन्त्रवत् तथा धार्यम्
नलकप्रच्युतसलिलं पतित यथा तद्घटी मध्ये। ५५
भ्रमति ततस्तत् सततं पूर्णघटीभि: समाकृष्टम्
चक्रच्युतं तदुदकं कुण्डे याति
प्रणालिकया। ५६

अर्थात्-ताम्र आदि धातु से बना हुआ, अंकुश के तरह मोड़ा हुआ एवं पानी से भरा तल का एक अन्त को जल पात्र में डुबा कर और दूसरे अन्त को बाहर अधोमुख करके अगर दोनों अन्त को एक साथ छोड़ेंगे तब पात्रस्थ जल सम्पूर्ण रूप से नल के द्वारा बाहर जाएगा। चक्र की परिधि में घटिकाओं को (जल पात्रों को) बांधकर, जल यंत्र के समान. चक्र के अक्ष के दोनों अन्त को उस प्रकार रखना चाहिए जैसे नल से गिरता हुआ पानी घटिका के भीतर गिरे। इससे वह चक्र पूर्ण घटियों के द्वारा खींचा हुआ निरन्तर घूमता है और चक्र से निकला हुआ पानी नाली के द्वारा कुण्ड में चला जाता है।

राव साहब के.वी. वझे द्वारा १९२६ में भोज द्वारा ११५० ईसवी में सम्पादित ग्रंथ 'समरांगण सूत्रधार' का विश्लेषण करते हुए यंत्रशास्त्र के बारे में दी गई जानकारी एक विकसित यंत्रज्ञान की कल्पना देती है। इस ग्रंथ में सभी यंत्रों की दृष्टि से कुछ मूलभूत बातों का विचार किया है। पृथ्वी पदार्थ स्वाभाविक स्थिर है, सभी यंत्र पदार्थ की कृत्रिम साधनों से उत्पन्न गति रूप है।

प्रकृत्या पार्थिवं स्थिरं शेषेषु सहजा गति:।
अत: प्रायेण सा जन्य क्षितावेव प्रयत्नत:।
सूत्रधार समरांगण अ ३१

यंत्रों के साधन व कार्य

यंत्र के मुख्य साधनों का वर्णन 'यंत्रार्णव' नामक ग्रंथ में किया गया है।
दंडैश्चक्रैश्च दंतैश्च सरणिभ्रमणादिभि:
शक्तेरूत्पांदनं किं वा चालानं यंत्रमुच्यते॥ यंत्रार्णव
यंत्र त्म्र ठ्ठ ड़दृदद्यद्धत्ध्ठ्ठदड़ड्ढ ड़दृदम्रत्म्रद्यत्दढ़ दृढ....

दंड- ख्ड्ढध्ड्ढद्ध, चक्र- घ्द्वथ्थ्ड्ढन्न, दंत- द्यदृदृद्यण्ड्ढड्ड ध्ण्ड्रढड्ढथ्, सरणि- त्दड़थ्त्दड्ढड्ड द्रथ्ठ्ठदड़ड्ढ, भ्रमण- च्ड़द्धड्ढध्र

ठ्ठदड्ड त्म्र द्धड्ढद्दद्रत्द्धड्ढड्ड ढदृद्ध द्रद्धदृड्डद्रड़त्दढ़ शक्ति (घ्दृध्ड्ढद्ध दृद्ध थ्दृद्यत्दृद) दृढ ड़ण्ठ्ठदढ़त्दढ़ त्द्यम्र ड्डत्द्धड्ढड़द्यत्दृद.

इनके मुख्य कार्य- दंड का उच्चाटन या च्द्यत्द्धद्धत्दढ़, चक्र का वशीकरण या क्ड्ढदद्यद्धठ्ठथ्त्दढ़ थ्दृद्यत्दृद, दंत का स्तंभन या म्रद्यदृद्रद्रत्दढ़, सरणि का जारण या एद्धत्दढ़त्दढ़ द्यदृढ़ड्ढद्यण्ड्ढद्ध, भ्रमण का मारण या ठ्ठददत्ण्त्थ्ठ्ठद्यत्दृद

एक यंत्र में तीन भाग होते हैं :

(१) बीज- द्यण्ड्ढ द्रद्धदृड्डद्रड़ड्ढद्ध दृढ ठ्ठड़द्यत्दृद (२) कीलक- द्यण्ड्ढ द्रत्द त्र्दृत्दढ़त्दढ़ द्रदृध्ड्ढद्ध ठ्ठदड्ड ध्दृद्धत्त् (३) शक्ति- द्यण्ड्ढ ठ्ठडत्थ्त्द्यन्न दृढ ड्डदृत्दढ़ द्यण्ड्ढ ध्दृद्धत्त्.

इस प्रकार यंत्र अपने तीन भाग, पांच साधनों एवं उनके द्वारा होने वाली क्रियाओं से गतिमान होता है। इससे विविध प्रकार की गति उत्पन्न होती है।

तिर्यगूर्ध्वमध: पृष्ठे पुरत: पार्श्वयोरपि
गमनं सरणं पात इति भेदा: क्रियोद्भवा:॥ समरांगण-अ ३१
विविध कार्यों की आवश्यकतानुसार विविध गति होती है जिससे कार्यसिद्धि होती है।

(१) तिर्यग्- म्रथ्ठ्ठदद्यत्दढ़ (२) ऊर्ध्व द्वद्रध्ठ्ठद्धड्डम्र (३) अध:- ड्डदृध्दध्ठ्ठद्धड्डम्र (४) पृष्ठे- डठ्ठड़त्त्ध्ठ्ठ्ठद्धड्डम्र (५) पुरत:- ढदृद्धध्ठ्ठद्धड्डम्र (६) पार्श्वयो:- म्रत्ड्डड्ढध्ठ्ठन्म्र

किसी भी यंत्र के मुख्य गुण क्या-क्या होने चाहिए, इसका वर्णन समरांगण सूत्रधार में करते हुए पुर्जों के परस्पर सम्बंध, चलने में सहजता, चलते समय विशेष ध्यान न देना पड़े, चलने में कम ऊर्जा का लगना, चलते समय ज्यादा आवाज न करें, पुर्जे ढीले न हों, गति कम-ज्यादा न हो, विविध कामों में समय संयोजन निर्दोष हो तथा लंबे समय तक काम करना आदि प्रमुख २० गुणों की चर्चा करते हुए ग्रंथ में कहा गया है-

चिरकालसहत्वं च यंत्रस्यैते महागुणा: स्मृता:। समरांगण-अ ३

हाइड्रोलिक मशीन (च्द्रद्धडत्दड्ढ)-जलधारा के शक्ति उत्पादन में उपयोग के संदर्भ में 'समरांगण सूत्रधार' ग्रंथ के ३१वें अध्याय में कहा है-

धारा च जलभारश्च पयसो भ्रमणं तथा॥
यथोच्छ्रायो यथाधिक्यं यथा नीरंध्रतापि च।
एवमादीनि भूजस्य जलजानि प्रचक्षते॥

बहती हुई जलधारा का भार तथा वेग का शक्ति उत्पादन हेतु हाइड्रोलिक मशीन में उपयोग किया जाता है। जलधारा वस्तु को घुमाती है और ऊंचाई से धारा गिरे तो उसका प्रभाव बहुत होता है और उसके भार व वेग के अनुपात में धूमती है। इससे शक्ति उत्पन्न होती है।

सङ्गृहीतश्च दत्तश्च पूरित: प्रतनोदित:।
मरुद् बीजत्वमायाति यंत्रेषु जलजन्मसु। समरांगण-३१

पानी को संग्रहित किया जाए, उसे प्रभावित और पुन: क्रिया हेतु उपयोग किया जाए, यह मार्ग है जिससे बल का शक्ति के रूप में उपयोग किया जाता है। इसकी प्रक्रिया का विस्तार से इसी अध्याय में वर्णन है।

कुछ अन्य संदर्भ भी यंत्र विज्ञान के बारे में मिलते हैं।

चालुक्य वंश के राज्य के समय एक बगीचे के टैंक में पानी निकासी की स्वयं संचालित व्यवस्था का वर्णन जर्नल ऑफ अनन्ताचार्य इन्डोलॉजीकल इन्स्टीट्यूट बाम्बे में आया है।

महर्षि भारद्वाज रचित 'विमान शास्त्र' में भी अनेक यंत्रों का वर्णन है, जिसका उल्लेख विमान शास्त्र अध्याय के प्रसंग में करेंगे।

राजा भोज के समरांगण सूत्रधार का ३१ वां अध्याय यंत्र विज्ञान के क्षेत्र में एक सीमा बिन्दु है। इस अध्याय में अनेक यंत्रों का वर्णन है। लकड़ी के वायुयान यांत्रिक दरबान तथा सिपाही, इनमें ङ्दृडदृद्य की एक झलक देख सकते हैं।

विमान शास्त्र का भारतीय इतिहास-१

लेखक - सुरेश सोनी

साधारणतया यह माना जाता है कि पक्षियों की तरह आकाश में उड़ने का मानव का स्वप्न राइट बंधुओं ने १७ दिसम्बर, १९०३ में विमान बनाकर पूरा किया। और विमान विद्या विश्व को पश्चिम की देन है। इसमें संशय नहीं कि आज विमान विद्या अत्यंत विकसित अवस्था में पहुंची है। परन्तु महाभारत काल तथा उससे पूर्व भारतवर्ष में भी विमान विद्या का विकास हुआ था। न केवल विमान अपितु अंतरिक्ष में स्थित नगर रचना भी हुई थी। इसके अनेक संदर्भ प्राचीन वाङ्मय में मिलते हैं।

विद्या वाचस्पति पं. मधुसूदन सरस्वती 'इन्द्रविजय' नामक ग्रंथ में ऋग्वेद के छत्तीसवें सूक्त के प्रथम मंत्र का अर्थ लिखते

हुए कहते हैं कि ऋभुओं ने तीन पहियों वाला ऐसा रथ बनाया था जो अंतरिक्ष में उड़ सकता था। पुराणों में विभिन्न देवी-देवता, यक्ष, विद्याधर आदि विमानों द्वारा यात्रा करते हैं, इस प्रकार के उल्लेख आते हैं। त्रिपुरासुर यानी तीन असुर भाइयों ने अंतरिक्ष में तीन अजेय नगरों का निर्माण किया था, जो पृथ्वी, जल व आकाश में आ जा सकते थे और भगवान शिव ने जिन्हें नष्ट किया। रामायण में पुष्पक विमान का वर्णन आता है। महाभारत में श्रीकृष्ण, जरासंध आदि के विमानों का वर्णन आता है। भागवत में कर्दम ऋषि की कथा आती है। तपस्या में लीन रहने के कारण वे अपनी पत्नी की ओर ध्यान नहीं दे पाए। इसका भान होने पर उन्होंने अपने विमान से उसे संपूर्ण विश्व का दर्शन कराया।

उपर्युक्त वर्णन जब आज का तार्किक व प्रयोगशील व्यक्ति सुनता या पढ़ता है तो उसके मन में स्वाभाविक विचार आता है कि ये सब कपोल कल्पनाएं हैं। मानव के मनोरंजन हेतु गढ़ी गई कहानियां हैं। ऐसा विचार आना सहज व स्वाभाविक है। क्योंकि आज देश में न तो कोई प्राचीन अवशेष मिलते हैं जो यह सिद्ध करें कि प्राचीन काल में विमान थे, न ऐसे ग्रंथ मिलते हैं जिनसे यह ज्ञात हो कि प्राचीन काल में विमान बनाने की तकनीक लोग जानते थे।

केवल सौभाग्य से एक ग्रंथ उपलब्ध है, जो बताता है कि भारत में प्राचीन काल में न केवल विमान विद्या थी, अपितु वह बहुत प्रगत अवस्था में भी थी। यह ग्रंथ, इसकी विषय सूची व इसमें किया गया वर्णन विगत अनेक वर्षों से देश-विदेश में अध्येताओं का ध्यान आकर्षित करता रहा है।

गत वर्ष दिल्ली के एक उद्योगपति श्री सुबोध से प्राचीन भारत में विज्ञान की स्थिति के संदर्भ में बात हो रही थी। बातचीत में उन्होंने अपना एक अनुभव बताया। सुबोध जी के छोटे भाई अमरीका के नासा में काम करते हैं। १९७३ में एक दिन उनका नासा से फोन आया कि भारत में महर्षि भारद्वाज का विमानशास्त्र पर कोई ग्रंथ है, वह नासा में कार्यरत उनके अमरीकी मित्र वैज्ञानिक को चाहिए। यह सुनकर सुबोध जी को आश्चर्य हुआ, क्योंकि उन्होंने भी प्रथम बार ही इस ग्रंथ के बारे में सुना था। बाद में उन्होंने प्रयत्न करके मैसूर से वह ग्रंथ प्राप्त कर उसे अमरीका भिजवाया। सन् १९५० में गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' के 'हिन्दू संस्कृति' अंक में श्री दामोदर जी साहित्याचार्य ने 'हमारी प्राचीन वैज्ञानिक कला' नामक लेख में इस ग्रंथ के बारे में विस्तार से उल्लेख किया था।

अभी दो तीन वर्ष पूर्व बंगलूरू के वायुसेना से सेवानिवृत्त अभियंता श्री प्रह्लाद राव की इस विषय में जिज्ञासा हुई और उन्होंने अपने साथियों के साथ एरोनॉटिकल सोसाइटी आफ इंडिया के सहयोग से एक प्रकल्प 'वैमानिक शास्त्र रीडिस्कवर्ड' लिया तथा अपने गहन अध्ययन व अनुभव के आधार पर यह प्रतिपादित किया कि इस ग्रंथ में अत्यंत विकसित विमान विद्या का वर्णन मिलता है। नागपुर के श्री एम.के. कावड़कर ने भी इस ग्रंथ पर काफी काम किया है।

महर्षि भरद्वाज ने 'यंत्र सर्वस्व' नामक ग्रंथ लिखा था, उसका एक भाग वैमानिक शास्त्र है। इस पर बोधानंद ने टीका लिखी थी। आज 'यंत्र सर्वस्व' तो उपलब्ध नहीं है तथा वैमानिक शास्त्र भी पूरा उपलब्ध नहीं है। पर जितना उपलब्ध है, उससे यह विश्वास होता है कि पूर्व में विमान एक सच्चाई थे।

वैमानिक शास्त्र के पहले प्रकरण में प्राचीन विज्ञान विषय के पच्चीस ग्रंथों की एक सूची है, जिनमें प्रमुख हैं अगस्त्य कृत-

शक्तिसूत्र, ईश्वर कृत-सौदामिनी कला, भरद्वाज कृत-अंशुबोधिनी, यंत्र सर्वस्व तथा आकाश शास्त्र, शाक्टायन कृत-वायुतत्व प्रकरण, नारद कृत-वैश्वानरतंत्र, धूम प्रकरण आदि। विमान शास्त्र की टीका लिखने वाले बोधानंद लिखते हैं-

निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधिं भरद्वाजो महामुनि:।
नवनीतं समुद्धृत्य यंत्रसर्वस्वरूपकम्॥
प्रायच्छत् सर्वकोकानामीपिस्तार्थफलप्रदम्॥
नानाविमानवैतित्र्यरचनाक्रमबोधकम्।
अष्टाध्यायैर्विभजितं शताधिकरणैयुर्तम्॥
सूत्रै: पश्चशतैर्युक्तं व्योमयानप्रधानकम्।
वैमानिकाधिकरणमुक्तं भगवता स्वयम्॥

अर्थात्-भरद्वाज महामुनि ने वेदरूपी समुद्र का मन्थन करके यंत्र सर्वस्व नाम का एक मक्खन निकाला है, जो मनुष्य मात्र के लिए इच्छित फल देने वाला है। उसके चालीसवें अधिकरण में वैमानिक प्रकरण है जिसमें विमान विषयक रचना के क्रम कहे गये हैं। यह ग्रंथ आठ अध्याय में विभाजित है तथा उसमें एक सौ अधिकरण तथा पांच सौ सूत्र हैं तथा उसमें विमान का विषय ही प्रधान है।

ग्रंथ के बारे में बताने के बाद भरद्वाज मुनि विमान शास्त्र के उनसे पूर्व हुए आचार्य तथा उनके ग्रंथों के बारे में लिखते हैं। वे आचार्य तथा उनके ग्रंथ निम्नानुसार थे।

(१) नारायण कृत-विमान चंद्रिका (२) शौनक कृत- व्योमयान तंत्र (३) गर्ग कृत-यंत्रकल्प (४) वाचस्पतिकृत-यान बिन्दु (५) चाक्रायणीकृत- खेटयान प्रदीपिका (६) धुण्डीनाथ- वियोमयानार्क प्रकाश

इस ग्रंथ में भरद्वाज मुनि ने विमान का पायलट, जिसे रहस्यज्ञ अधिकारी कहा गया, आकाश मार्ग, वैमानिक के कपड़े, विमान के पुर्जे, ऊर्जा, यंत्र तथा उन्हें बनाने हेतु विभिन्न धातुओं का वर्णन किया है।

विमान की परिभाषा

नारायण ऋषि कहते हैं-जो पृथ्वी, जल तथा आकाश में पक्षियों के समान वेगपूर्वक चल सके, उसका नाम विमान है।

शौनक के अनुसार-एक स्थान से दूसरे स्थान को आकाश मार्ग से जा सके, विश्वम्भर के अनुसार- एक देश से दूसरे देश या एक ग्रह से दूसरे ग्रह जा सके, उसे विमान कहते हैं।

रहस्यज्ञ अधिकारी (घ्त्थ्दृद्य)-भरद्वाज मुनि कहते हैं, विमान के रहस्यों को जानने वाला ही उसे चलाने का अधिकारी है। शास्त्रों में विमान चलाने के बत्तीस रहस्य बताए गए हैं। उनका भलीभांति ज्ञान रखने वाला ही सफल चालक हो सकता है क्योंकि विमान बनाना, उसे जमीन से आकाश में ले जाना, खड़ा करना, आगे बढ़ाना, टेढ़ी-मेढ़ी गति से चलाना, चक्कर

लगाना और विमान के वेग को कम अथवा अधिक करना- इसे जाने बिना यान चलाना असम्भव है। अत: जो इन रहस्यों को जानता है वह रहस्यज्ञ अधिकारी है तथा उसे विमान चलाने का अधिकार है। इन बत्तीस रहस्यों में कुछ प्रमुख रहस्य निम्न प्रकार हैं।

(३) कृतक रहस्य- बत्तीस रहस्यों में यह तीसरा रहस्य है, जिसके अनुसार विश्वकर्मा, छायापुरुष, मनु तथा मयदानव आदि के विमान शास्त्र के आधार पर आवश्यक धातुओं द्वारा इच्छित विमान बनाना, इसमें हम कह सकते हैं कि यह 'हार्डवेयर' का वर्णन है।

(५) गूढ़ रहस्य-यह पांचवा रहस्य है जिसमें विमान को छिपाने की विधि दी गई है। इसके अनुसार वायु तत्व प्रकरण में कही गई रीति के अनुसार वातस्तम्भ की जो आठवीं परिधि रेखा है उस मार्ग की यासा, वियासा तथा प्रयासा इत्यादि वायु शक्तियों के द्वारा सूर्य किरण में रहने वाली जो अन्धकार शक्ति है, उसका आकर्षण करके विमान के साथ उसका सम्बंध बनाने पर विमान छिप जाता है।

(९) अपरोक्ष रहस्य-यह नवां रहस्य है। इसके अनुसार शक्ति तंत्र में कही गई रोहिणी विद्युत के फैलाने से विमान के सामने आने वाली वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

(१०) संकोचा-यह दसवां रहस्य है। इसके अनुसार आसमान में उड़ते समय आवश्यकता पड़ने पर विमान को छोटा करना।

(११) विस्तृता-यह ग्यारहवां रहस्य है। इसके अनुसार आवश्यकता पड़ने पर विमान को बड़ा करना। यहां यह ज्ञातव्य है कि वर्तमान काल में यह तकनीक १९७० के बाद विकसित हुई है।

(२२) सर्पागमन रहस्य-यह बाईसवां रहस्य है जिसके अनुसार विमान को सर्प के समान टेढ़ी-मेढ़ी गति से चलाना संभव है। इसमें कहा गया है दण्ड, वक्र आदि सात प्रकार के वायु और सूर्य किरणों की शक्तियों का आकर्षण करके यान के मुख से जो तिरछे फेंकने वाला केन्द्र है उसके मुख में उन्हें नियुक्त करके बाद उसे खींचकर शक्ति पैदा करने वाले नाल में प्रवेश कराना चाहिए। इसके बाद बटन दबाने से विमान की गति सांप के समान टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है।

(२५) परशब्द ग्राहक रहस्य-यह पच्चसीवां रहस्य है। इसमें कहा गया है कि सौदामिनी कला ग्रंथ के अनुसार शब्द ग्राहक यंत्र विमान पर लगाने से उसके द्वारा दूसरे विमान पर लोगों की बातचीत सुनी जा सकती है।

(२६) रूपाकर्षण रहस्य- इसके द्वारा दूसरे विमान के अंदर सब देखा जा सकता है।

(२८) दिक्प्रदर्शन रहस्य-दिशा सम्पत्ति नामक यंत्र द्वारा दूसरे विमान की दिशा ध्यान में आती है।

(३१) स्तब्धक रहस्य-एक विशेष प्रकार के अपस्मार नामक गैस स्तम्भन यंत्र द्वारा दूसरे विमान पर छोड़ने से अंदर के

सब लोग बेहोश हो जाते हैं।

(३२) कर्षण रहस्य-यह बत्तीसवां रहस्य है। इसके अनुसार अपने विमान का नाश करने आने वाले शत्रु के विमान पर अपने विमान के मुख में रहने वाली वैश्रवानर नाम की नली में ज्वालिनी को जलाकर सत्तासी लिंक (डिग्री जैसा कोई नाप है) प्रमाण हो तब तक गर्म कर फिर दोनों चक्की की कीलि (बटन) चलाकर शत्रु विमानों पर गोलाकार से उस शक्ति को फैलाने से शत्रु का विमान नष्ट हो जाता है।

विमानशास्त्र का भारतीय इतिहास-२

महर्षि शौनक आकाश मार्ग का पांच प्रकार का विभाजन करते हैं तथा धुण्डीनाथ विभिन्न मार्गों की ऊंचाई पर विभिन्न आवर्त्त दृद्ध ध्र्ण्त्द्धथ्द्रदृदृथ्द्म का उल्लेख करते हैं और उस-उस ऊंचाई पर सैकड़ों यात्रा पथों का संकेत देते हैं। इसमें पृथ्वी से १०० किलोमीटर ऊपर तक विभिन्न ऊंचाईयों पर निर्धारित पथ तथा वहां कार्यरत शक्तियों का विस्तार से वर्णन करते हैं।

आकाश मार्ग तथा उनके आवर्तों का वर्णन निम्नानुसार है-

(१) रेखा पथ- शक्त्यावृत-
ध्र्ण्त्द्धथ्द्रदृदृथ्द्म दृढ ड्ढदड्ढद्धढ़न्न

(२) मंडलपथ - वातावृत्त-
ज़्त्दड्ड

(३) कक्ष पथ - किरणावृत्त-
च्दृथ्ठ्ठद्ध द्धठ्ठन्द्म

(४) शक्ति पथ - सत्यावृत्त-
क्दृथ्ड्ड ड़द्वद्धद्धड्ढदद्य

(५) केन्द्र पथ - घर्षणावृत्त-
क्दृथ्थ्त्द्मत्दृद

वैमानिक का खाद्य-इसमें किस ऋतु में किस प्रकार का अन्न हो, इसका वर्णन है। उस समय के विमान आज से कुछ भिन्न थे। आज तो विमान उतरने की जगह निश्चित है पर उस समय विमान कहीं भी उतर सकते थे। अत: युद्ध के दौरान जंगल में उतरना पड़ा तो जीवन निर्वाह कैसे करना, इसीलिए १०० वनस्पतियों का वर्णन दिया है जिनके सहारे दो-तीन

माह जीवन चलाया जा सकता है।

एक और महत्वपूर्ण बात वैमानिक शास्त्र में कही गई है कि वैमानिक को खाली पेट विमान नहीं उड़ाना चाहिए। इस संदर्भ में बंगलोर के श्री एम.पी. राव बताते हैं कि भारतीय वायुसेना में सुबह जब फाइटर प्लेन को वैमानिक उड़ाते थे तो कभी-कभी दुर्घटना हो जाती थी। इसका विश्लेषण होने पर ध्यान में आया की वैमानिक खाली पेट विमान उड़ाते हैं तब ऐसा होता है। अत: १९८१ में वायु सेना में खाना देने की व्यवस्था शुरू की।

विमान के यंत्र- विमान शास्त्र में ३१ प्रकार के यंत्र तथा उनका विमान में निश्चित स्थान का वर्णन मिलता है। इन यंत्रों का कार्य क्या है? इसका भी वर्णन किया गया है। कुछ यंत्रों की जानकारी निम्नानुसार है-

(१) विश्व क्रिया दर्पण-इस यंत्र के द्वारा विमान के आस-पास चलने वाली गति-विधियों का दर्शन वैमानिक को विमान के अंदर होता था, इसे बनाने में अभ्रक (ग्त्ड़ड्ड) तथा पारा (थ्ड्ढद्धड़द्वद्धन्र) आदि का प्रयोग होता था।

(२) परिवेष क्रिया यंत्र- इसमें स्वचालित यंत्र वैमानिक (ऋद्वद्यदृ घ्त्थ्दृद्य द्मन्द्मद्यड्ढथ्र) का वर्णन है।

(३) शब्दाकर्षण यंत्र- इस यंत्र के द्वारा २६ कि.मी. क्षेत्र की आवाज सुनी जा सकती थी तथा पक्षियों की आवाज आदि सुनने से विमान को दुर्घटना से बचाया जा सकता था।

(४) गुह गर्भ यंत्र-इस यंत्र के द्वारा जमीन के अन्दर विस्फोटक खोजने में सफलता मिलती थी।

(५) शक्त्याकर्षण यंत्र- विषैली किरणों को आकर्षित कर उन्हें उष्णता में परिवर्तित करना और वह उष्णता वातावरण में छोड़ना।

(६) दिशा दर्शी यंत्र- दिशा दिखाने वाला यंत्र।

(७) वक्र प्रसारण यंत्र-इस यंत्र के द्वारा शत्रु विमान अचानक सामने आ गया तो उसी समय पीछे मुड़ना संभव होता था।

(८) अपस्मार यंत्र- युद्ध के समय इस यंत्र से विषैली गैस छोड़ी जाती थी।

(९) तमोगर्भ यंत्र-इस यंत्र के द्वारा युद्ध के समय विमान को छिपाना संभव था। इनके निर्माण में तमोगर्भ लौह प्रमुख घटक रहता था।

उर्जा स्रोत- विमान को चलाने के लिए चार प्रकार के ऊर्जा स्रोतों का महर्षि भारद्वाज उल्लेख करते हैं। (१) वनस्पति तेल, जो पेट्रोल की भांति काम करता है। (२) पारे की भाप (ग्ड्ढद्धड़द्वद्धन्र ध्ठ्ठद्रदृद्वद्ध) प्राचीन शास्त्रों में इसका शक्ति के रूप में उपयोग किये जाने का वर्णन है। इसके द्वारा अमरीका में विमान उड़ाने का प्रयोग हुआ, पर वह ऊपर गया, तब विस्फोट हो गया। परन्तु यह तो सिद्ध हुआ कि पारे की भाप का ऊर्जा के रूप में उपयोग किया जा सकता है। आवश्यकता अधिक

निर्दोष प्रयोग करने की है। (३) सौर ऊर्जा-इसके द्वारा भी विमान चलता था। (४) वातावरण की ऊर्जा- बिना किसी अन्य साधन के सीधे वातावरण से शक्ति ग्रहण कर विमान, उड़ना जैसे समुद्र में पाल खोलने पर नाव हवा के सहारे तैरती है उसी प्रकार अंतरिक्ष में विमान वातावरण से शक्ति ग्रहण कर चलता रहेगा। अमरीका में इस दिशा में प्रयत्न चल रहे हैं। यह वर्णन बताता है कि ऊर्जा स्रोत के रूप में प्राचीन भारत में कितना व्यापक विचार हुआ था।

विमान के प्रकार- विमान विद्या के पूर्व आचार्य युग के अनुसार विमानों का वर्णन करते है। मंत्रिका प्रकार के विमान, जिसमें भौतिक एवं मानसिक शक्तियों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया रहती थी, वह सतयुग और त्रेता युग में संभव था। इसमें २५ प्रकार के विमान का उल्लेख है। द्वापर युग में तांत्रिका प्रकार के विमान थे। इनके ५६ प्रकार बताये गए हैं तथा कलियुग में कृतिका प्रकार के यंत्र चालित विमान थे, इनके २५ प्रकार बताये गए हैं। इनमें शकुन, रूक्म, हंस, पुष्कर, त्रिपुर आदि प्रमुख थे।

उपर्युक्त वर्णन पढ़ने पर कुछ समस्याएं व प्रश्न हमारे सामने आकर खड़े होते हैं। समस्या यह कि आज के विज्ञान की शब्दावली व नियमावली से हम परिचित हैं, परन्तु प्राचीन विज्ञान, जो संस्कृत में अभिव्यक्त हुआ, उसकी शब्दावली, उनका अर्थ तथा नियमावली हम जानते नहीं। अत: उसमें निहित रहस्य को अनावृत (क़्ड्ढड़दृड्ढ) करना पड़ेगा। दूसरा, प्राचीनकाल में गलत व्यक्ति के हाथ में विद्या न जाए, इस हेतु बात को अप्रत्यक्ष ढंग से, गूढ़ रूप में, अलंकारिक रूप में कहने की पद्धति थी। अत: उसको भी समझने के लिए ऐसे लोगों के इस विषय में आगे प्रयत्न करने की आवश्यकता है, जो संस्कृत भी जानते हों तथा विज्ञान भी जानते हों।

विमान शास्त्र में वर्णित धातुएं

दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या विमान शास्त्र ग्रंथ का कोई भाग ऐसा है जिसे प्रारंभिक तौर पर प्रयोग द्वारा सिद्ध किया जा सके। यदि ऐसा कोई भाग है तो क्या इस दिशा में कुछ प्रयोग हुए हैं? क्या उनमें कुछ सफलता मिली है?

सौभाग्य से उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर हां में दिए जा सकते हैं। हैदराबाद के डा. श्रीराम प्रभु ने वैमानिक शास्त्र ग्रंथ के यंत्राधिकरण को देखा, तो उसमें वर्णित ३१ यंत्रों में से कुछ यंत्रों की उन्होंने पहचान की तथा इन यंत्रों को बनाने हेतु लगने वाली मिश्र धातुओं को बनाने की जो विधि लोहाधिकरण में दी गई है, उनके अनुसार मिश्र धातुओं का निर्माण संभव है या नहीं, इस हेतु प्रयोग करने का विचार उनके मन में आया। प्रयोग हेतु डा. प्रभु तथा उनके साथियों ने हैदराबाद स्थित बी.एम.बिरला साइंस सेन्टर के सहयोग से प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित धातु, दर्पण आदि का निर्माण प्रयोगशाला में करने का प्रकल्प लिया और उनके परिणाम आशास्पद हैं। अपने प्रयोगों के आधार पर प्राचीन ग्रंथ में वर्णित वर्णन के आधार पर दुनिया में अनुपलब्ध कुछ धातुएं बनाने में सफलता उन्हें मिली है। इडद्ध/ऊ
प्रथम धातु है तमोगर्भ लौह। विमान शास्त्र में वर्णन है कि यह विमान को अदृश्य करने के काम आता है। इस पर प्रकाश छोड़ने से ७५ से ८० प्रतिशत प्रकाश को सोख लेता है। यह धातु रंग में काली तथा शीशे से कठोर तथा कान्सन्ट्रेटेड सल्फ्युरिक एसिड में भी नहीं गलती।

दूसरी धातु जो बनाई है उसका नाम है पंच लौह। यह रंग में स्वर्ण जैसा है तथा कठोर और भारी है। तांबा आधारित इस मिश्र धातु की विशेषता यह है कि इसमें सीसे का प्रमाण ७.९५ प्रतिशत है जबकि अमरीका में भी अमरीकन सोसायटी ऑफ मेटल्स ने कॉपर बेस्ट मिश्र धातु में सीसे का अधिकतम प्रमाण ०.३५ से ३ प्रतिशत तक संभव है, यह माना है। इस प्रकार ७.९५ सीसे के मिश्रण वाली यह धातु अनोखी है।

तीसरी धातु है आरर। यह तांबा आधारित मिश्र धातु है जो रंग में पीली और कठोर तथा हल्की है। इस धातु में ङ्ङ्घत्म्घ्यठ्ठदड़ड्ड घ्दृ थ्र्दृत्म्घ्यद्वद्धड्ड का गुण है। बी.एम. बिरला साइंस सेन्टर (हैदराबाद) के डायरेक्टर डा. बी.जी. सिद्धार्थ ने इन धातुओं को बनाने में सफलता की जानकारी १८ जुलाई, १९९१ को एक पत्रकार परिषद् में देते हुए बताया कि इन धातुओं को बनाने में खनिजों के साथ विभिन्न औषधियां, पत्ते, गौंद, पेड़ की छाल आदि का भी उपयोग होता है। इस कारण जहां इनकी लागत कम आती है, वहीं कुछ विशेष गुण भी उत्पन्न होते हैं। उन्होंने कहा कि ग्रंथ में वर्णित अन्य धातुओं का निर्माण और उस हेतु आवश्यक साधनों की दिशा में देश के नीति निर्धारक सोचेगें तो यह देश के भविष्य के विकास की दृष्टि से अच्छा होगा। उपर्युक्त पत्रकार परिषद् को 'वार्ता' न्यूज एजेन्सी ने जारी किया तथा म.प्र. के नई दुनिया, एम.पी.क्रानिकल सहित देश के अनेक समाचार पत्रों में १९ जुलाई को यह प्रकाशित हुए।

इसी प्रकार आई.आई.टी. (मुम्बई) के रसायन शास्त्र विभाग के. डा. माहेश्वर शेरोन ने भी इस ग्रंथ में वर्णित तीन पदार्थों को बनाने का प्रयत्न किया। ये थे चुम्बकमणि, जो गुहगर्भ यंत्र में काम आती है और उसमें परावर्तन (रिफ्लेक्शन) को अधिगृहीत (कैप्चर) करने का गुण है। पराग्रंधिक द्रव-यह एक प्रकार का एसिड है, जो चुम्बकमणि के साथ गुहगर्भ यंत्र में काम आता है।

इसी प्रकार महर्षि भरद्वाज कृत अंशुबोधनी ग्रंथ में विभिन्न प्रकार की धातु तथा दर्पणों का वर्णन है। इस पर वाराणसी के हरिश्चंद्र पी.जी. कालेज के रीडर डा. एन.जी. डोंगरे ने क्ष्दड्डत्ठ्ठद ग़्ठ्ठद्यत्दृदठ्ठथ् च्ड़त्ड्ढदड़ड्ड ऋड़ठ्ठड्डड्ढथ्र्न्र के सहयोग से एक प्रकल्प लिया। प्रकल्प का नाम था च्ण्ड्ढ्ढ द्मद्यद्वड्डन्र दृढ ध्ठ्ठद्धत्दृद्वद्म थ्र्ठ्ठद्यड्ढद्धत्ठ्ठथ्द्म ड्डड्ढद्मड़द्धत्डड्ढड्ड त्द ऋथ्र्द्मद्वडदृड्डण्त्दत् दृढ ग्ठ्ठण्ठ्ठद्धद्मण्त् एण्ठ्ठद्धठ्ठड्डध्र्ठ्ठत्र्ठ्ठ.

इस प्रकल्प के तहत उन्होंने महर्षि भरद्वाज वर्णित दर्पण को बनाने का प्रयत्न नेशनल मेटलर्जीकल लेबोरेटरी (जमशेदपुर) में किया तथा वहां के निदेशक पी.रामचन्द्र राव, जो आजकल बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति हैं, के साथ प्रयोग कर एक विशेष प्रकार का कांच बनाने में सफलता प्राप्त की, जिसका नाम प्रकाश स्तंभन भिद् लौह है। इसकी विशेषता है कि यह दर्शनीय प्रकाश को सोखता है तथा इन्फ्र्ारेड प्रकाश को जाने देता है। इसका निर्माण इनसे होता है-

कचर लौह- च्त्थ्त्ड़ठ्ठ
भूचक्र सुरमित्रादिक्षर- ख्र्त्थ्र्ड्ढ
अयस्कान्त- ख्र्दृड्डड्ढद्मद्यदृदड्ढ
रुरुक- क्ड्ढड्ढद्धडदृदड्ढ ठ्ठद्मण्

इनके द्वारा अंशुबोधिनी में वर्णित विधि से किया गया। प्रकाश स्तंभन भिद् लौह की यह विशेषता है कि यह पूरी तरह से नॉन हाइग्रोस्कोपिक है। हाइग्रोस्कोपिक इन्फ्ारेड वाले कांचों में पानी की भाप या वातावरण की नमी से उनका पॉलिश हट जाता है और वे बेकार हो जाते हैं। आजकल क्ष्ठक़२ यह बहुत अधिक हाईग्रोस्कोपिक है। अत: इनके यंत्रों के प्रयोग में बहुत सावधानी रखनी पड़ती है जबकि प्रकाश स्तंभन भिद् लौह के अध्ययन से यह सिद्ध हुआ है कि इन्फ्ारेड सिग्नल्स में (२ द्यदृ ५छ) (१थ्र्उ१०-४क्थ्र) तक की रेंज में यह आदर्श काम करता है तथा इसका प्रयोग वातावरण में मौजूद नमी के खतरे के बिना किया जा सकता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महर्षि भरद्वाज प्रणीत ग्रंथ के विभिन्न अध्यायों में से एक अध्याय पर हुए कुछ प्रयोगों की सत्यता यह विश्वास दिलाती है कि यदि एक ग्रंथ का एक अध्याय ठीक है तो अन्य अध्याय भी ठीक होंगे और प्राचीनकाल में विमान विद्या कपोल-कल्पना न होकर एक यथार्थ थी। इसका विश्वास दिलाती है। यह विश्वास सार्थक करने हेतु इस पुस्तक के अन्य अध्याय अपनी सत्यता की सिद्धि हेतु साहसी संशोधकों की राह देख रहे हैं।

नौका शास्त्र

लेखक - सुरेश सोनी

समुद्र यात्रा भारतवर्ष में प्राचीन काल से प्रचलित रही है। महर्षि अगस्त्य समुद्री द्वीप-द्वीपान्तरों की यात्रा करने वाले महापुरुष थे। इसी कारण अगस्त्य ने समुद्र को पी डाला, यह कथा प्रचलित हुई होगी। संस्कृति के प्रचार के निमित्त या नए स्थानों पर व्यापार के निमित्त दुनिया के देशों में भारतीयों का आना-जाना था। कौण्डिन्य समुद्र पार कर दक्षिण पूर्व एशिया पहुंचे। मैक्सिको के यूकाटान प्रांत में जवातुको नामक स्थान पर प्राप्त सूर्य मंदिर के शिलालेख में महानाविक वुसुलिन के शक संवत् ८८५ में पहुंचने का उल्लेख मिलता है। गुजरात के लोथल में हुई खुदाई में ध्यान में आता है कि ई. पूर्व २४५० के आस-पास बने बंदरगाह द्वारा इजिप्त के साथ सीधा सामुद्रिक व्यापार होता था। २४५० ई.पू. से २३५० ई.पू. तक छोटी नावें इस बंदरगाह पर आती थीं। बाद में बड़े जहाजों के लिए आवश्यक रचनाएं खड़ी की गएं तथा नगर रचना भी हुई।

प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक के नौ निर्माण कला का उल्लेख प्रख्यात बौद्ध संशोधक भिक्षु चमनलाल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू अमेरिका' में किया है। इसी प्रकार सन् १९५० में कल्याण के हिन्दू संस्कृति अंक में गंगा शंकर मिश्र ने भी विस्तार से इस इतिहास को लिखा है।

भारतवर्ष के प्राचीन वाङ्मय वेद, रामायण, महाभारत, पुराण आदि में जहाजों का उल्लेख आता है। जैसे बाल्मीकि रामायण के अयोध्या कांड में ऐसी बड़ी नावों का उल्लेख आता है जिसमें सैकड़ों योद्धा सवार रहते थे।

नावां शतानां पञ्चानां
कैवर्तानां शतं शतम।
सन्नद्धानां तथा यूनान्तिष्ठक्त्वत्यभ्यचोदयत्॥

अर्थात्-सैकड़ों सन्नद्ध जवानों से भरी पांच सौ नावों को सैकड़ों धीवर प्रेरित करते हैं।

इसी प्रकार महाभारत में यंत्र-चालित नाव का वर्णन मिलता है।

सर्ववातसहां नावं यंत्रयुक्तां पताकिनीम्।

अर्थात्-यंत्र पताका युक्त नाव, जो सभी प्रकार की हवाओं को सहने वाली है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में राज्य की ओर से नावों के पूरे प्रबंध के संदर्भ में जानकारी मिलती है। ५वीं सदी में हुए वारहमिहिर कृत 'बृहत् संहिता' तथा ११वीं सदी के राजा भोज कृत 'युक्ति कल्पतरु' में जहाज निर्माण पर प्रकाश डाला गया है।

नौका विशेषज्ञ भोज चेतावनी देते हैं कि नौका में लोहे का प्रयोग न किया जाए, क्योंकि संभव है समुद्री चट्टानों में कहीं चुम्बकीय शक्ति हो। तब वह उसे अपनी ओर खींचेगी, जिससे जहाज को खतरा हो सकता है।

नौकाओं के प्रकार- 'हिन्दू अमेरिका' (पृ.३५७) के अनुसार 'युक्ति कल्पतरु' ग्रंथ में नौका शास्त्र का विस्तार से वर्णन है। नौकाओं के प्रकार, उनका आकार, नाम आदि का विश्लेषण किया गया है।

(१) सामान्य-वे नौकाएं, जो साधारण नदियों में चल सकें।

(२) विशेष-जिनके द्वारा समुद्र यात्रा की जा सके।

उत्कृष्ट निर्माण-कल्याण (हिन्दू संस्कृति अंक-१९५०) में नौका की सजावट का सुंदर वर्णन आता है। चार श्रं◌◌ृग (मस्तूल) वाली नौका सफेद, तीन श्रृग वाली लाल, दो श्रृंग वाली पीली तथा एक श्रं◌◌ृग वाली को नीला रंगना चाहिए।

नौका मुख-नौका की आगे की आकृति यानी नौका का मुख सिंह, महिष, सर्प, हाथी, व्याघ्र, पक्षी, मेढ़क आदि विविध आकृतियों के आधार पर बनाने का वर्णन है।

भारत पर मुस्लिम आक्रमण ७वीं सदी में प्रारंभ हुआ। उस काल में भी भारत में बड़े-बड़े जहाज बनते थे। मार्क◌◌ोपोलो तेरहवीं सदी में भारत में आया। वह लिखता है 'जहाजों में दोहरे तख्तों की जुड़ाई होती थी, लोहे की कीलों से उनको मजबूत बनाया जाता था और उनके सुराखों को एक प्रकार की गोंद में भरा जाता था। इतने बड़े जहाज होते थे कि उनमें तीन-तीन सौ मल्लाह लगते थे। एक-एक जहाज पर ३ से ४ हजार तक बोरे माल लादा जा सकता था। इनमें रहने के लिए ऊपर कई कोठरियां बनी रहती थीं, जिनमें सब तरह के आराम का प्रबंध रहता था। जब पेंदा खराब होने लगता तब उस

पर लकड़ी की एक नयी तह को जड़ लिया जाता था। इस तरह कभी-कभी एक के ऊपर एक ६ तह तक लगायी जाती थी।'

१५वीं सदी में निकोली कांटी नामक यात्री भारत आया। उसने लिखा कि 'भारतीय जहाज हमारे जहाजों से बहुत बड़े होते हैं। इनका पेंदा तिहरे तख्तों का इस प्रकार बना होता है कि वह भयानक तूफानों का सामना कर सकता है। कुछ जहाज ऐसे बने होते हैं कि उनका एक भाग बेकार हो जाने पर बाकी से काम चल जाता है।'

बर्थमा नामक यात्री लिखता है 'लकड़ी के तख्तों की जुड़ाई ऐसी होती है कि उनमें जरा सा भी पानी नहीं आता। जहाजों में कभी दो पाल सूती कपड़े के लगाए जाते हैं, जिनमें हवा खूब भर सके। लंगर कभी-कभी पत्थर के होते थे। ईरान से कन्याकुमारी तक आने में आठ दिन का समय लग जाता था।' समुद्र के तटवर्ती राजाओं के पास जहाजों के बड़े-बड़े बेड़े रहते थे। डा. राधा कुमुद मुकर्जी ने अपनी 'इंडियन शिपिंग' नामक पुस्तक में भारतीय जहाजों का बड़ा रोचक एवं सप्रमाण इतिहास दिया है।

क्या वास्कोडिगामा ने भारत आने का मार्ग खोजा: अंग्रेजों ने एक भ्रम और व्याप्त किया कि वास्कोडिगामा ने समुद्र मार्ग से भारत आने का मार्ग खोजा। यह सत्य है कि वास्कोडिगामा भारत आया था, पर वह कैसे आया इसके यथार्थ को हम जानेंगे तो स्पष्ट होगा कि वास्तविकता क्या है? प्रसिद्ध पुरातत्ववेता पद्मश्री डा. विष्णु श्रीधर वाकणकर ने बताया कि मैं अभ्यास के लिए इंग्लैण्ड गया था। वहां एक संग्रहालय में मुझे वास्कोडिगामा की डायरी के संदर्भ में बताया गया। इस डायरी में ं वास्कोडिगामा ने वह भारत कैसे आया, इसका वर्णन किया है। वह लिखता है, जब उसका जहाज अफ्र ीका में जंजीबार के निकट आया तो मेरे से तीन गुना बड़ा जहाज मैंने देखा। तब एक अफ्र ीकन दुभाषिया लेकर वह उस जहाज के मालिक से मिलने गया। जहाज का मालिक चंदन नाम का एक गुजराती व्यापारी था, जो भारतवर्ष से चीड़ व सागवान की लकड़ी तथा मसाले लेकर वहां गया था और उसके बदले में हीरे लेकर वह कोचीन के बंदरगाह आकार व्यापार करता था। वास्कोडिगामा जब उससे मिलने पहुंचा तब वह चंदन नाम का व्यापारी सामान्य वेष में एक खटिया पर बैठा था। उस व्यापारी ने वास्कोडिगामा से पूछा, कहां जा रहे हो? वास्कोडिगामा ने कहा- हिन्दुस्थान घूमने जा रहा हूं। तो व्यापारी ने कहा मैं कल जा रहा हूं, मेरे पीछे-पीछे आ जाओ।' इस प्रकार उस व्यापारी के जहाज का अनुगमन करते हुए वास्कोडिगामा भारत पहुंचा। स्वतंत्र देश में यह यथार्थ नयी पीढ़ी को बताया जाना चाहिए था परन्तु दुर्भाग्य से यह नहीं हुआ। (उदयन इंदुरकर-दृष्टकला साधक- पृ. ३२)

उपर्युक्त वर्णन पढ़कर मन में विचार आ सकता है कि नौका निर्माण में भारत इतना प्रगत देश था तो फिर आगे चलकर यह विद्या लुप्त क्यों हुई? इस दृष्टि से अंग्रेजों के भारत में आने और उनके राज्य काल में योजनापूर्वक भारतीय नौका उद्योग को नष्ट करने के इतिहास के बारे में जानना जरूरी है। उस इतिहास का वर्णन करते हुए श्री गंगा शंकर मिश्र कल्याण के हिन्दू संस्कृति अंक (१९५०) में लिखते हैं-

'पाश्चात्यों का जब भारत से सम्पर्क हुआ तब वे यहां के जहाजों को देखकर चकित रह गए। सत्रहवीं शताब्दी तक

यूरोपीय जहाज अधिक से अधिक ६ सौ टन के थे, परन्तु भारत में उन्होंने 'गोघा' नामक ऐसे बड़े-बड़े जहाज देखे जो १५ सौ टन से भी अधिक के होते थे। यूरोपीय कम्पनियां इन जहाजों को काम में लाने लगीं और हिन्दुस्थानी कारीगरों द्वारा जहाज बनवाने के लिए उन्होंने कई कारखाने खोल लिए। सन् १८११ में लेफ्टिनेंट वाकर लिखता है कि 'ब्रिटिश जहाजी बेड़े के जहाजों की हर बारहवें वर्ष मरम्मत करानी पड़ती थी। परन्तु सागौन के बने हुए भारतीय जहाज पचास वर्षों से अधिक समय तक बिना किसी मरम्मत के काम देते थे।' 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के पास 'दरिया दौलत' नामक एक जहाज था, जो ८७ वर्षों तक बिना किसी मरम्मत के काम देता रहा। जहाजों को बनाने में शीशम, साल और सागौन-तीनों लकड़ियां काम में लायी जाती थीं।

सन् १८११ में एक फ्रांसीसी यात्री वाल्टजर सालविन्स अपनी 'ले हिन्दू' नामक पुस्तक में लिखता है कि 'प्राचीन समय में नौ-निर्माण कला में हिन्दू सबसे आगे थे और आज भी वे इसमें यूरोप को पाठ पढ़ा सकते हैं। अंग्रेजों ने, जो कलाओं के सीखने में बड़े चतुर होते हैं, हिन्दुओं से जहाज बनाने की कई बातें सीखीं। भारतीय जहाजों में सुन्दरता तथा उपयोगिता का बड़ा अच्छा योग है और वे हिन्दुस्थानियों की कारीगरी और उनके धैर्य के नमूने हैं।' बम्बई के कारखाने में १७३६ से १८६३ तक ३०० जहाज तैयार हुए, जिनमें बहुत से इंग्लैण्ड के 'शाही बेड़े' में शामिल कर लिए गए। इनमें 'एशिया' नामक जहाज २२८९ टन का था और उसमें ८४ तोपें लगी थीं। बंगाल में हुगली, सिल्हट, चटगांव और ढाका आदि स्थानों पर जहाज बनाने के कारखाने थे। सन् १७८१ से १८२१ तक १,२२,६९३ टन के २७२ जहाज केवल हुगली में तैयार हुए थे।

अंग्रेजों की कुटिलता-ब्रिटेन के जहाजी व्यापारी भारतीय नौ-निर्माण कला का यह उत्कर्ष सहन न कर सके और वे 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' पर भारतीय जहाजों का उपयोग न करने के लिए दबाने बनाने लगे। सन् १८११ में कर्नल वाकर ने आंकड़े देकर यह सिद्ध किया कि 'भारतीय जहाजों' में बहुत कम खर्च पड़ता है और वे बड़े मजबूत होते हैं। यदि ब्रिटिश बेड़े में केवल भारतीय जहाज ही रखे जाएं तो बहुत बचत हो सकती है।' जहाज बनाने वाले अंग्रेज कारीगरों तथा व्यापारियों को यह बात बहुत खटकी। डाक्टर टेलर लिखता है कि 'जब हिन्दुस्थानी माल से लदा हुआ हिन्दुस्थानी जहाज लंदन के बंदरगाह पर पहुंचा, तब जहाजों के अंग्रेज व्यापारियों में ऐसी घबराहट मची जैसा कि आक्रमण करने के लिए टेम्स नदी में शत्रुपक्ष के जहाजी बेड़े को देखकर भी न मचती।'

लंदन बंदरगाह के कारीगरों ने सबसे पहले हो-हल्ला मचाया और कहा कि 'हमारा सब काम चौपट हो जाएगा और हमारे कुटुम्ब भूखों मर जाएंगे।' 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के 'बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स' (निदेशक-मण्डल) ने लिखा कि हिन्दुस्थानी खलासियों ने यहां आने पर जो हमारा सामाजिक जीवन देखा, उससे भारत में यूरोपीय आचरण के प्रति जो आदर और भय था, नष्ट हो गया। अपने देश लौटने पर हमारे सम्बंध में वे जो बुरी बातें फैलाएंगे, उसमें एशिया निवासियों में हमारे आचरण के प्रति जो आदर है तथा जिसके बल पर ही हम अपना प्रभुत्व जमाए बैठे हैं, नष्ट हो जाएगा और उसका प्रभाव बड़ा हानिकर होगा।' इस पर ब्रिटिश संसद ने सर राबर्ट पील की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की।

काला कानून- समिति के सदस्यों में परस्पर मतभेद होने पर भी इस रपट के आधार पर सन् १८१४ में एक कानून पास

किया, जिसके अनुसार भारतीय खलासियों को ब्रिटिश नाविक बनने का अधिकार नहीं रहा। ब्रिटिश जहाजों पर भी कम-से कम तीन चौथाई अंग्रेज खलासी रखना अनिवार्य कर दिया गया। लंदन के बंदरगाह में किसी ऐसे जहाज को घुसने का अधिकार नहीं रहा, जिसका स्वामी कोई ब्रिटिश न हो और यह नियम बना दिया गया कि इंग्लैण्ड में अंग्रेजों द्वारा बनाए हुए जहाजों में ही बाहर से माल इंग्लैण्ड आ सकेगा।' कई कारणों से इस कानून को कार्यान्वित करने में ढिलाई हुई, पर सन् १८६३ से इसकी पूरी पाबंदी होने लगी। भारत में भी ऐसे कायदे-कानून बनाए गए जिससे यहां की प्राचीन नौ-निर्माण कला का अन्त हो जाए। भारतीय जहाजों पर लदे हुए माल की चुंगी बढ़ा दी गई और इस तरह उनको व्यापार से अलग करने का प्रयत्न किया गया। सर विलियम डिग्वी ने ठीक ही लिखा है कि 'पाश्चात्य संसार की रानी ने इस तरह प्राप्च सागर की रानी का वध कर डाला।' संक्षेप में भारतीय नौ-निर्माण कला को नष्ट करने की यही कहानी है। (क्रमश:)

वस्त्र उद्योग

लेखक - सुरेश सोनी

विनोबा भावे ने १६-६-८६ को 'भूमिपुत्र' में एक लेख में वस्त्र बन८ना कैसे प्रारंभ हुआ, इसका वर्णन किया है। वस्त्रोद्योग के मूल में सूत है और सूत का उत्पादन कपास से होता है। वैदिक आख्यानों में वर्णन आता है कि सर्वप्रथम ऋषि गृत्स्मद ने कपास का पेड़ बोया और अपने इस प्रयोग से दस सेर कपास प्राप्त की। इस कपास से सूत बनाया। इस सूत से वस्त्र कैसे बनाना, यह समस्या थी। इसके समाधान के लिए उन्होंने लकड़ी की तकली बनायी। वैदिक भाषा में कच्चे धागे को तंतु कहते हैं। तंतु बनाते समय अधिक बचा हिस्सा ओतु कहा जाता है। इस प्रकार सूत से वस्त्र बनाने की प्रक्रिया ऋषि गृत्स्मद ने दी।

आगे चलकर विकास होता गया और सूती से आगे बढ़कर रेशम, कोशा आदि के द्वारा वस्त्र बनने लगे। बने हुए वस्त्रों, साड़ियों आदि पर सोने, चांदी आदि की कढ़ाई, रंगाई का काम होने लगा। वस्त्रों को भिन्न-भिन्न प्राकृतिक रंगों में रंग कर तैयार किया जाने लगा और एक समय में भारतीय वस्त्रों का सारे विश्व में निर्यात होता था। यहां के सूती वस्त्र तथा विशेष रूप से बंगाल की मलमल ढाका की मलमल के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुई। इनकी मांग प्राचीन ग्रीक, इजिप्ट और अरब व्यापारियों द्वारा भारी मात्रा में होती थी और ये व्यापारी इसका अपने देश के विभिन्न प्रांतों व नगरों में विक्रय करते थे।

प्रमोद कुमार दत्त अपने शोध प्रबंध की प्रस्तावना में भारतीय वस्त्रों के वैशिष्ट्य और उनके संदर्भ में विभिन्न लोगों की टिप्पणियों के संदर्भ में लिखते हैं-

'नवीं शताब्दी में अरब के दो यात्री यहां आए। उन्होंने लिखा कि भारतीय वस्त्र इतने असामान्य हैं कि ऐसे वस्त्र और कहीं नहीं देखे गए। इतना महीन तथा इतनी सफाई और सुन्दरता का वस्त्र बनता है कि एक पूरा थान अंगूठी के अन्दर से

निकाल लिया जाए।'

तेरहवीं सदी में आए मार्क ो पोलो ने तो अनूठी घोषणा की कि 'विश्व के किसी भी कोने में प्राप्त सुन्दर व बढ़िया सूती वस्त्र का निर्माण स्थल कोरोमंडल और मछलीपट्टनम् के किनारे होंगे।'

इन वस्त्रों की बारीकी और सफाई को लेकर कहानियां प्रचलित हैं। एक बार औरंगजेब की पुत्री दरबार में गई तो औरंगजेब उसके वस्त्रों को देखकर बहुत खफा हुआ और उसने कहा, नामाकूल! तेरे अंदर की शर्म-हया कहां चली गई जो दुनिया को तू अपने अंग दिखा रही है। उस पर उसकी पुत्री ने कहा, क्या करूं अब्बाजान, यह वस्त्र जो पहना है, वह एक के ऊपर एक ऐसे सात बार तह करने के बाद पहना है।

सत्रहवीं सदी के मध्य में भारत भ्रमण पर आने वाले फ्रांसीसी व्यापारी टेवर्नीय सूती वस्त्रों का वर्णन करते हुए लिखता है 'वे इतने सुन्दर और हल्के हैं कि हाथ पर रखें तो पता भी नहीं लगता। सूत की महीन कढ़ाई मुश्किल से नजर आती है।' वह आगे कहता है कि कालीकट की ही भांति सिकन्ज (मालवा प्रांत) में भी इतना महीन 'कालीकट' (सूती कपड़े का नाम) बनता है कि पहनने वाले का शरीर ऐसा साफ दिखता था मानों वह नग्न ही हो। टेवर्नीय अपना एक और संस्मरण लिखता है, 'एक पर्शियन राजदूत भारत से वापस गया तो उसने अपने सुल्तान को एक नारियल भेंट में दिया। दरबारियों को आश्चर्य हुआ कि सुल्तान को नारियल भेंट में दे रहा है, पर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उस नारियल को खोला तो उसमें से ३० गज लम्बा मलमल का थान निकला।' सर जोसेफ बेक को मि. विल्कीन्स ने ढाका की मलमल का एक टुकड़ा दिया। बेक कहते हैं कि यह विगत कुछ समय का वस्त्र की बारीकी का श्रेष्ठतम नमूना है। बेक ने स्वयं जो विश्लेषण, माप उस वस्त्र का निकालकर इंडिया हाउस को लिखकर भेजा, वह निम्न प्रकार है-

मि. बेक कहते हैं कि विल्कीन्स द्वारा दिए गए टुकड़े का वजन-३४.३ ग्रेन था (एक पाउण्ड में ७००० ग्रेन होते हैं तथा १ ग्राम में १५.५ ग्रेन होते हैं।), लम्बाई-५ गज ७ इंच थी, इसमें धागे-१९८ थे। यानी धागे की कुल लम्बाई-१०२८.५ गज थी। अर्थात् १ ग्रेन में २९.९८ गज धागा बना था। इसका मतलब है कि यह धागा २४२५ काऊंट का था। आज की आधुनिक तकनीक में भी धागा ५००-६०० काऊंट से ज्यादा नहीं होता।

सर जी. बर्डवुड ने सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इण्डिया के अनुरोध पर एक पुस्तक लिखी थी 'दी इंडस्ट्रियल आर्ट्स ऑफ इंडिया'। इसके पृष्ठ ८३ पर वे लिखते हैं कि 'बताया जाता है कि जहांगीर के काल में पंद्रह गज लम्बी और एक गज चौड़ी ढाका की मलमल का वजन केवल १०० ग्रेन होता था।' इसी पुस्तक के पृष्ठ ९५ पर लिखा है-'अंग्रेज और अन्य यूरोपीय लेखकों ने तो यहां की मलमल, सूती व रेशमी वस्त्रों को 'बुलबुल की आंख' 'मयूर कंठ' 'चांद सितारे' 'बफ्ते हवा' (पवन के तारे) 'बहता पानी' और 'संध्या की ओस' जैसी अनेक काव्यमय उपमाएं दी हैं। सूती कपड़े और मलमल का उत्पादन इंग्लैण्ड में क्रमश: १७७२ तथा १७८१ में प्रारंभ हुआ।

१८३५ में एडवर्ड बेञ्ज ने लिखा 'अपने वस्त्र उद्योग में भारतीयों ने प्रत्येक युग के अतुलित और अनुपमेय मानदंड को बनाए रखा। उनके कुछ मलमल के वस्त्र तो मानो मानवों के नहीं अपितु परियों और तितलियों द्वारा तैयार किए लगते हैं।

ऐसे वस्त्र जहां बनते थे, उन कुटीर उद्योगों को अंग्रेजों ने षड्यंत्रपूर्वक नष्ट किया। जो अगूंठे उन्हें बनाते थे, उन्हें काट दिया गया। देश आजाद होने के बाद आशा थी, हम पुन: अपनी जड़ों में जुड़ेंगे। जो अंगूठे कटे, वे वापस मिलेंगे। पर आज भी पश्चिमी तकनीक के आभामंडल में देश जी रहा है। इसे बदलने हेतु चितंन की आवश्यकता है।

भारत की विश्व को देन : गणित शास्त्र-१

गणित शास्त्र की परम्परा भारत में बहुत प्राचीन काल से ही रही है। गणित के महत्व को प्रतिपादित करने वाला एक श्लोक प्राचीन काल से प्रचलित है।

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्।। (याजुष ज्योतिषम)

अर्थात् जैसे मोरों में शिखा और नागों में मणि सबसे ऊपर रहती है, उसी प्रकार वेदांग और शास्त्रों में गणित सर्वोच्च स्थान पर स्थित है।

ईशावास्योपनिषद् के शांति मंत्र में कहा गया है-

ॐपूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

यह मंत्र मात्र आध्यात्मिक वर्णन नहीं है, अपितु इसमें अत्यंत महत्वपूर्ण गणितीय संकेत छिपा है, जो समग्र गणित शास्त्र का आधार बना। मंत्र कहता है, यह भी पूर्ण है, वह भी पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति होती है, तो भी वह पूर्ण है और अंत में पूर्ण में लीन होने पर भी अवशिष्ट पूर्ण ही रहता है। जो वैशिष्ट्य पूर्ण के वर्णन में है वही वैशिष्ट्य शून्य व अनंत में है। शून्य में शून्य जोड़ने या घटाने पर शून्य ही रहता है। यही बात अनन्त की भी है।

हमारे यहां जगत के संदर्भ में विचार करते समय दो प्रकार के चिंतक हुए। एक इति और दूसरा नेति। इति यानी पूर्णता के बारे में कहने वाले। नेति यानी शून्यता के बारे में कहने वाले। यह शून्य का आविष्कार गणना की दृष्टि से, गणित के विकास की दृष्टि से अप्रतिम रहा है।

भारत गणित शास्त्र का जन्मदाता रहा है, यह दुनिया भी मानने लगी है। यूरोप की सबसे पुरानी गणित की पुस्तक "कोडेक्स विजिलेन्स" है। यह पुस्तक स्पेन की राजधानी मेड्रिड के संग्राहलय में रखी है। इसमें लिखा है-

"गणना के चिन्हों से (अंकों से) हमें यह अनुभव होता है कि प्राचीन हिन्दुआें की बुद्धि बड़ी पैनी थी तथा अन्य देश गणना व ज्यामिति तथा अन्य विज्ञानों में उनसे बहुत पीछे थे। यह उनके नौ अंकों से प्रमाणित हो जाता है, जिनकी

सहायता से कोई भी संख्या लिखी जा सकती है।"

नौ अंक और शून्य के संयोग से अनंत गणनाएं करने की सामर्थ्य और उसकी दुनिया के वैज्ञानिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका की वर्तमान युग के विज्ञानी लाप्लास तथा अल्बर्ट आईंस्टीन ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

भारतीय अंकों की विश्व यात्रा की कथा विश्व के अनेक विद्वानों ने वर्णित की है। इनका संक्षिप्त उल्लेख पुरी के शंकराचार्य श्रीमत् भारती कृष्णतीर्थ जी ने अपनी गणित शास्त्र की अद्भुत पुस्तक "वैदिक मैथेमेटिक्स" की प्रस्तावना में किया है।

वे लिखते हैं "इस संदर्भ में यह कहते हर्ष होता है कि कुछ तथाकथित भारतीय विद्वानों के विपरीत आधुनिक गणित के मान्य विद्वान यथा प्रो. जी.पी. हाल्स्टैंड. प्रो. गिन्सबर्ग, प्रो. डी. मोर्गन, प्रो. हटन- जो सत्य के अन्वेषक तथा प्रेमी हैं, ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया और प्राचीन भारत द्वारा गणितीय ज्ञान की प्रगति में दिए गए अप्रतिम योगदान की निष्कपट तथा मुक्त कंठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की है।"

इनमें से कुछ विद्वानों के उदाहरण इस विषय में स्वत: ही विपुल प्रमाण प्रस्तुत करेंगे।

1. प्रो. जी.पी. हाल्स्टेंड अपनी पुस्तक "गणित की नींव तथा प्रक्रियाएं" के पृष्ठ २० पर कहते हैं, "शून्य के संकेत के आविष्कार की महत्ता कभी बखानी नहीं जा सकती है।" "कुछ नहीं" को न केवल एक नाम तथा सत्ता देना वरन् एक शक्ति देना हिन्दू जाति का लक्षण है, जिनकी यह उपज है। यह निर्वाण को डायनमो की शक्ति देने के समान है। अन्य कोई भी एक गणितीय आविष्कार बुद्धिमत्ता तथा शक्ति के सामान्य विकास के लिए इससे अधिक प्रभावशाली नहीं हुआ।
2. इसी संदर्भ में बी.बी.दत्त अपने प्रबंध "संख्याआें को व्यक्त करने की आधुनिक विधि (इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, अंक ३, पृष्ठ ५३०-४५०) में कहते हैं "हिन्दुआें ने दाशमलविक पद्धति बहुत पहले अपना ली थी। किसी भी अन्य देश की गणितीय अंकों की भाषा प्राचीन भारत के समान वैज्ञानिक तथा पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकी थी। उन्हें किसी भी संख्या को केवल दस बिंबों की सहायता से सरलता से तथा सुन्दरतापूर्वक व्यक्त करने में सफलता मिली। हिन्दू संख्या अंकन पद्धति की इसी सुन्दरता ने विश्व के सभ्य समाज को आकर्षित किया तथा उन्होंने इसे सहर्ष अपनाया।"
3. इसी संदर्भ में प्रो. गिन्सबर्ग "न्यू लाइट ऑन अवर न्यूमरल्स" लेख, जो बुलेटिन आफ दि अमेरिकन मैथेमेटिकल सोसायटी में छपा, के पृष्ठ ३६६-३६९ में कहते हैं, "लगभग ७७० ई, सदी में उज्जैन के हिन्दू विद्वान कंक को बगदाद के प्रसिद्ध दरबार में अब्बा सईद खलीफा अल मन्सूर ने आमंत्रित किया। इस तरह हिन्दू अंकन पद्धति अरब पहुंची। कंक ने हिन्दू ज्योतिष विज्ञान तथा गणित अरबी विद्वानों को पढ़ाई। कंक की सहायता से उन्होंने ब्रह्मपुत्र के "ब्रह्म स्फूट सिद्धान्त" का अरबी में अनुवाद किया। ्फ्रांसीसी विद्वान एम.एफ.नाऊ की ताजी खोज यह प्रमाणित करती है कि सातवीं सदी के मध्य में सीरिया में भारतीय अंक ज्ञात थे तथा उनकी सराहना की जाती थी।"

4. बी.बी. दत्त अपने लेख में आगे कहते हैं "अरब से मिश्र तथा उत्तरी अरब होते हुए ये अंक धीरे-धीरे पश्चिम में पहुंचे तथा ग्यारहवीं सदी में पूर्ण रूप से यूरोप पहुंच गए। यूरोपियों ने उन्हें अरबी अंक कहा, क्योंकि उन्हें अरब से मिले। किन्तु स्वयं अरबों ने एकमत से उन्हें हिन्दू अंक (अल-अरकान-अलहिन्द) कहा"।

गणित शास्त्र-२ : जब विश्व १०,००० जानता था, तब भारत ने अनंत खोजा

लेखक -सुरेश सोनी

संस्कृत का एकं हिन्दी में एक हुआ, अरबी व ग्रीक में बदल कर 'वन' हुआ। शून्य अरबी में सिफर हुआ, ग्रीक में जीफर और अंग्रेजी में जीरो हो गया। इस प्रकार भारतीय अंक दुनिया में छाये।

अंक गणित- अंकों का क्रम से विवेचन यजुर्वेद में मिलता है - सविता प्रथमेऽहन्नग्नि र्द्वितीये वायुस्तृतीयऽआदिचतुर्थे चन्द्रमा: पञ्चमऽऋतु:षष्ठे मरूत: सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे। मित्रो नवमे वरुणो दशमंऽइन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे। (यजुर्वेद-३९-६)। इसमें विशेषता है अंक एक से बारह तक क्रम से दिए हैं।

गणना की दृष्टि से प्राचीन ग्रीकों को ज्ञात सबसे बड़ी संख्या मीरीयड थी, जिसका माप १०४ यानी १०,००० था। और रोमनों को ज्ञात सबसे बड़ी संख्या मिली थी, जिसकी माप १०३ यानी १००० थी। जबकि भारतवर्ष में कई प्रकार की गणनाएं प्रचलित थीं। गणना की ये पद्धतियां स्वतंत्र थीं तथा वैदिक, जैन, बौद्ध ग्रंथों में वर्णित इन पद्धतियों के कुछ अंकों में नाम की समानता थी परन्तु उनकी संख्या राशि में अन्तर आता था।

प्रथम दशगुणोत्तर संख्या- अर्थात् बाद वाली संख्या पहले से दस गुना अधिक। इस संदर्भ में यजुर्वेद संहिता के १७वें अध्याय के दूसरे मंत्र में उल्लेख आता है। जिसका क्रम निम्नानुसार है- एक, दस, शत, सहस्र, अयुक्त, नियुक्त, प्रयुक्त, अर्बुद्ध, न्यर्बुद्र, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्ध। इस प्रकार परार्ध का मान हुआ १०१२ यानी दस खरब।

द्वितीय शतगुणोत्तर संख्या-अर्थात् बाद वाली संख्या पहले वाली संख्या से सौ गुना अधिक। इस संदर्भ में ईसा पूर्व पहली शताब्दी के 'ललित विस्तर' नामक बौद्ध ग्रंथ में गणितज्ञ अर्जुन और बोधिसत्व का वार्तालाप है, जिसमें वह पूछता है कि एक कोटि के बाद की संख्या कौन-सी है? इसके उत्तर में बोधिसत्व कोटि यानी १०७ के आगे की शतगुणोत्तर संख्या का वर्णन करते हैं।

१०० कोटि, अयुत, नियुत, कंकर, विवर, क्षोम्य, निवाह, उत्संग, बहुल, नागबल, तितिलम्ब, व्यवस्थान प्रज्ञप्ति, हेतुशील, करहू, हेत्विन्द्रिय, समाप्तलम्भ, गणनागति, निखध, मुद्राबाल, सर्वबल, विषज्ञागति, सर्वज्ञ, विभुतंगमा, और तल्लक्षणा। अर्थात् तल्लक्षणा का मान है १०५३ यानी एक के ऊपर ५३ शून्य के बराबर का अंक।

तृतीय कोटि गुणोत्तर संख्या-कात्यायन के पाली व्याकरण के सूत्र ५१, ५२ में कोटि गुणोत्तर संख्या का उल्लेख है। अर्थात्

बाद वाली संख्या पहले वाली संख्या से करोड़ गुना अधिक।

इस संदर्भ में जैन ग्रंथ 'अनुयोगद्वार' में वर्णन आता है। यह संख्या निम्न प्रकार है-कोटि-कोटि, पकोटी, कोट्यपकोटि, नहुत, निन्नहुत, अक्खोभिनि, बिन्दु, अब्बुद, निरष्बुद, अहह, अबब, अतत, सोगन्धिक, उप्पल कुमुद, पुण्डरीक, पदुम, कथान, महाकथान और असंख्येय। असंख्येय का मान है १०१४० यानी एक के ऊपर १४० शून्य वाली संख्या।

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में अंक विद्या कितनी विकसित थी, जबकि विश्व १०,००० से अधिक संख्या नहीं जानता था।

उपर्युक्त संदर्भ विभूति भूषण दत्त और अवधेश नारायण सिंह द्वारा लिखित पुस्तक 'हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास' में विस्तार के साथ दिए गए हैं।

आगे चलकर देश में आर्यभट्ट, भास्कराचार्य, श्रीधर आदि अनेक गणितज्ञ हुए। उनमें भास्कराचार्य ने ११५० ई. में 'सिद्धान्त शिरोमणि' नामक ग्रंथ लिखा। इस महान ग्रंथ के चार भाग हैं। (१) लीलावती (२) बीज गणित (३) गोलाध्याय (४) ग्रह गणित।

श्री गुणाकर मुले अपनी पुस्तक 'भास्कराचार्य' में लिखते हैं कि भास्कराचार्य ने गणित के मूल आठ कार्य माने हैं-

(१) संकलन (जोड़) (२) व्यवकलन (घटाना) (३) गुणन (गुणा करना) (४) भाग (भाग करना) (५) वर्ग (वर्ग करना) (६) वर्ग मूल (वर्ग मूल निकालना) (७) घन (घन करना) (८) घन मूल (घन मूल निकालना)। ये सभी गणितीय क्रियाएं हजारों वर्षों से देश में प्रचलित रहीं। लेकिन भास्कराचार्य लीलावती को एक अदभुत बात बताते हैं कि 'इन सभी परिक्रमों के मूल में दो ही मूल परिकर्म हैं- वृद्धि और ह्रास।' जोड़ वृद्धि है, घटाना ह्रास है। इन्हीं दो मूल क्रियाओं में संपूर्ण गणित शास्त्र व्याप्त है।'

आजकल कम्प्यूटर द्वारा बड़ी से बड़ी और कठिन गणनाओं का उत्तर थोड़े से समय में मिल जाता है। इसमें सारी गणना वृद्धि और ह्रास के दो चिन्ह (अ,-) द्वारा होती है। इन्हें विद्युत संकेतों में बदल दिया जाता है। फिर सीधा प्रवाह जोड़ने के लिए, उल्टा प्रवाह घटाने के लिए। इसके द्वारा विद्युत गति से गणना होती है।

आजकल गणित एक शुष्क विषय माना जाता है। पर भास्कराचार्य का ग्रंथ 'लीलावती' गणित को भी आनंद के साथ मनोरंजन, जिज्ञासा आदि का सम्मिश्रण करते हुए कैसे पढ़ाया जा सकता है, इसका नमूना है। लीलावती का एक उदाहरण देखें-

'निर्मल कमलों के एक समूह के तृतीयांश, पंचमांश तथा षष्ठमांश से क्रमश: शिव, विष्णु और सूर्य की पूजा की, चतुर्थांश से पार्वती की और शेष छ: कमलों से गुरु चरणों की पूजा की गई। अये, बाले लीलावती, शीघ्र बता कि उस कमल समूह में कुल कितने फूल थे?' उत्तर-१२० कमल के फूल।

वर्ग और घन को समझाते हुए भास्कराचार्य कहते हैं 'अये बाले, लीलावती, वर्गाकार क्षेत्र और उसका क्षेत्रफल वर्ग कहलाता है। दो समान संख्याओं का गुणन भी वर्ग कहलाता है। इसी प्रकार तीन समान संख्याओं का गुणनफल घन है और बारह कोष्ठों और समान भुजाओं वाला ठोस भी घन है।'

'मूल' शब्द संस्कृत में पेड़ या पौधे की जड़ के अर्थ में या व्यापक रूप में किसी वस्तु के कारण, उद्गम अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसलिए प्राचीन गणित में वर्ग मूल का अर्थ था 'वर्ग का कारण या उद्गम अर्थात् वर्ग एक भुजा'। इसी प्रकार घनमूल का अर्थ भी समझा जा सकता है। वर्ग तथा घनमूल निकालने की अनेक विधियां प्रचलित थीं।

इसी प्रकार भास्कराचार्य त्रैराशिक का भी उल्लेख करते हैं। इसमें तीन राशियों का समावेश रहता है। अत: इसे त्रैराशिक कहते हैं। जैसे यदि प्र (प्रमाण) में फ (फल) मिलता है तो इ (इच्छा) में क्या मिलेगा?

त्रैराशिक प्रश्नों में फल राशि को इच्छा राशि से गुणा करना चाहिए और प्राप्त गुणनफल को प्रमाण राशि से भाग देना चाहिए। इस प्रकार भाग करने से जो परिणाम मिलेगा वही इच्छा फल है। आज से दो हजार वर्ष पूर्व त्रैराशिक नियम का भारत में आविष्कार हुआ। अरब देशों में यह नियम आठवीं शताब्दी में पहुंचा। अरबी गणितज्ञों ने त्रैराशिक को 'फी राशिकात अल्-हिन्द' नाम दिया। बाद में यह यूरोप में फैला जहां इसे गोल्डन रूल की उपाधि दी गई। प्राचीन गणितज्ञों को न केवल त्रैराशिक अपितु पंचराशिक, सप्तराशिक व नवराशिक तक का ज्ञान था।

बीज गणित-बीज गणित की उत्पत्ति का केन्द्र भी भारत ही रहा है। इसे अव्यक्त गणित या बीज गणित कहा जाता था। अरबी विद्वान मूसा अल खवारिज्मी ने नौंैवी सदी में भारत आकर यह विद्या सीखी और एक पुस्तक 'अलीजेब ओयल मुकाबिला' लिखी। वहां से यह ज्ञान यूरोप पहुंचा।

भारत वर्ष में पूर्व काल में आपस्तम्ब, बोधायन, कात्यायन तथा बाद में व्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य आदि गणितज्ञों ने इस पर काम किया। भास्कराचार्य कहते हैं, बीज गणित- का अर्थ है अव्यक्त गणित, इस अव्यक्त बीज का आदिकारण होता है, व्यक्त। इसलिए सबसे पहले 'लीलावती' में इस व्यक्त गणित अंकगणित का चर्चा की। बीजगणित में भास्कराचार्य शून्य और अनंत की चर्चा करते हैं।
वधा दौ वियत् खं खेनधाते,

खहारो भवेत् खेन भक्तश्च राशि:।

अर्थात् यदि शून्य में किसी संख्या का भाग गिया जाए या शून्य को किसी संख्या से गुणा किया जाए तो फल शून्य ही आता है। यदि किसी संख्या में शून्य का भाग दिया जाए, तो परिण ख हर (अनन्त) आता है।

शून्य और अनंत गणित के दो अनमोल रत्न हैं। रत्न के बिना जीवन चल सकता है, परन्तु शून्य और अनंत के बिना गणित कुछ भी नहीं।

शून्य और अनंत भौतिक जगत में जिनका कहीं भी नाम निशान नहीं, और जो केवल मनुष्य के मस्तिष्क की उपज है, फिर भी वे गणित और विज्ञान के माध्यम से विश्व के कठिन से कठिन रहस्यों को स्पष्ट करते हैं।

व्रह्मगुप्त ने विभिन्न 'समीकरण' खोज निकाले। इन्हें व्रह्मगुप्त ने एक वर्ण, अनेक वर्ण, मध्यमाहरण और मापित नाम दिए। एक वर्ण समीकरण में अज्ञात राशि एक तथा अनेक वर्ण में अज्ञात राशि एक से अधिक होती थी।

रेखा गणित-रेखा गणित की जन्मस्थली भी भारत ही रहा है। प्राचीन काल से यज्ञों के लिए वेदियां बनती थीं। इनका आधार ज्यामिति या रेखागणित रहता था। पूर्व में बोधायन एवं आपस्तम्ब ने ईसा से ८०० वर्ष पूर्व अपने शुल्ब सूत्रों में वैदिक यज्ञ हेतु विविध वेदियों के निर्माण हेतु आवश्यक स्थापत्यमान दिए हैं।

किसी त्रिकोण के बराबर वर्ग खींचना, ऐसा वर्ग खींचना जो किसी वर्ग का द्विगुण, त्रिगुण अथवा एक तृतीयांश हो। ऐसा वृत्त बनाना, जिसका क्षेत्र उपस्थित वर्ग के क्षेत्र के बराबर हो। उपर्युक्त विधियां शुल्ब सूत्र में बताई गई हैं।

किसी त्रिकोण का क्षेत्रफल उसकी भुजाओं से जानने की रीति चौथी शताब्दी के 'सूर्य सिद्धान्त' ग्रंथ में बताई गई है। इसका ज्ञान यूरोप को क्लोबियस द्वारा सोलहवीं शताब्दी में हुआ। (क्रमश :)

गणित शास्त्र-३ : पाइथागोरस से पहले आर्यभट्ट, न्यूटन से पहले भास्कराचार्य

लेखक - सुरेश सोनी

हमारे यहां धनुष की चाप को ज्या कहते हैं। रेखागणित में इस शब्द का प्रयोग हमारे यहां ही हुआ। यहां से जब यह अरबस्तान में गया, तो वहां ई,ऊ आदि स्वर अक्षर नहीं हैं, अत: उन्होंने इसे ज-ब के रूप में लिखा। यह जब यूरोप पहुंचा तो वे जेब कहने लगे। जेब का अर्थ वहां छाती होता है। लैटिन में छाती के लिए सिनुस शब्द है। अत: इसका संक्षिप्त रूप हुआ साइन। ऐसे अनेक शब्दों ने भारत से यूरोप तक की यात्रा अरबस्तान होकर की है। इसे कहते हैं एक शब्द की विश्व यात्रा।

पाइथागोरस प्रमेय या बोधायन प्रमेय

कल्पसूत्र ग्रंथों के अनेक अध्यायों में एक अध्याय शुल्ब सूत्रों का होता है। वेदी नापने की रस्सी को रज्जू अथवा शुल्ब कहते हैं। इस प्रकार ज्यामिति को शुल्ब या रज्जू गणित कहा जाता था। अत: ज्यामिति का विषय शुल्ब सूत्रों के अन्तर्गत आता था। उनमें बोधायन ऋषि का बोधायन प्रमेय निम्न है-

दीर्घचतुरस स्याक्ष्णया रज्जू:
पार्श्वमानी तिर्यक्मानी

यत्पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं
करोति। (बोधायन शुलब सूत्र १-१२)

इसका अर्थ है, किसी आयात का कर्ण क्षेत्रफल में उतना ही होता है, जितना कि उसकी लम्बाई और चौड़ाई होती है। बोधायन ने शुल्ब-सूत्र में यह सिद्धान्त दिया गया है। इसको पढ़ते ही तुरंत समझ में आता है कि यदि किसी आयत का कर्ण ब स, लम्बाई अ ब तथा चौड़ाई अ स है तो बोधायन का प्रमेय ब स२ उ अ ब२ अ अ स२ बनता है। इस प्रमेय को आजकल के विद्यार्थियों को पाइथागोरस प्रमेय नाम से पढ़ाया जाता है, जबकि यूनानी गणितज्ञ पाइथागोरस से कम से कम एक हजार साल पहले बोधायन ने इस प्रमेय का वर्णन किया है। यह भी हो सकता है कि पाइथागोरस ने शुल्ब-सूत्र का अध्ययन करने के पश्चात अपनी पुस्तक में यह प्रमेय दिया हो। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि ज्यामिति के क्षेत्र में भारतीय गणितज्ञ आधुनिक गणितज्ञों से भी आगे थे। बोधायन ने उक्त प्रसिद्ध प्रमेय के अतिरिक्त कुछ और प्रमेय भी दिए हैं- किसी आयत का कर्ण आयत का समद्विभाजन करता है आयत के दो कर्ण एक दूसरे का समद्विभाजन करते हैं। समचतुर्भुज के कर्ण एक दूसरे को समकोण पर विभाजित करते हैं आदि। बोधायन और आपस्तम्ब दोनों ने ही किसी वर्ग के कर्ण और उसकी भुजा का अनुपात बताया है, जो एकदम सही है।

शुल्ब-सूत्र में किसी त्रिकोण के क्षेत्रफल के बराबर क्षेत्रफल का वर्ग बनाना, वर्ग के क्षेत्रफल के बराबर का वृत्त बनाना, वर्ग के दोगुने, तीन गुने या एक तिहाई क्षेत्रफल के समान क्षेत्रफल का वृत्त बनाना आदि विधियां बताई गई हैं। भास्कराचार्य की 'लीलावती' में यह बताया गया है कि किसी वृत्त में बने समचतुर्भुज, पंचभुज, षड्भुज, अष्टभुज आदि की एक भुजा उस वृत्त के व्यास के एक निश्चित अनुपात में होती है।

आर्यभट्ट ने त्रिभुज का क्षेत्रफल निकालने का सूत्र भी दिया है। यह सूत्र इस प्रकार है-

त्रिभुजस्य फलशरीरं समदल कोटी भुजार्धासंवर्ग:।

त्रिभुज का क्षेत्रफल उसके लम्ब तथा लम्ब के आधार वाली भुजा के आधे के गुणनफल के बराबर होता है। साथ दिए चित्र के अनुसार अबस उ१/२ अ ब न् स प। पाई ( ) का मान- आज से १५०० वर्ष पूर्व आर्यभट्ट ने का मान निकाला था।

किसी वृत्त के व्यास तथा उसकी परिधि के (घेरे के) प्रमाण को आजकल पाई कहा जाता है। पहले इसके लिए माप १० (दस का वर्ग मूल) ऐसा अंदाजा लगाया गया। एक संख्या को उसी से गुणा करने पर आने वाले गुणनफल की प्रथम संख्या वर्गमूल बनती है। जैसे- २न्२ उ ४ अत: २ ही ४ का वर्ग मूल है। लेकिन १० का सही मूल्य बताना यद्यपि कठिन है, पर हिसाब की दृष्टि से अति निकट का मूल्य जान लेना जरूरी था। इसे आर्यभट्ट ऐसे कहते हैं-

चतुरधिकम् शतमष्टगुणम् द्वाषष्ठिस्तथा सहस्राणाम्
अयुतद्वयनिष्कम्भस्यासन्नो वृत्तपरिणाह:॥

(आर्य भट्टीय-१०)

अर्थात् एक वृत्त का व्यास यदि २०००० हो, तो उसकी परिधि ६२२३२ होगी।

परिधि - ६२८३२
व्यास - २००००

आर्यभट्ट इस मान को एकदम शुद्ध नहीं परन्तु आसन्न यानी निकट है, ऐसा कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वे सत्य के कितने आग्रही थे।

अकबर के दरबार में मंत्री अबुल फजल ने अपने समय की घटनाओं को 'आईने अकबरी' में लिखा है। वे लिखते हैं कि यूनानियों को हिन्दुओं द्वारा पता लगाये गए वृत्त के व्यास तथा उसकी परिधि के मध्य सम्बंध के रहस्य की जानकारी नहीं थी। इस बारे में ठोस परिज्ञान प्राप्त करने वाले हिन्दू ही थे। आर्यभट्ट को ही पाई का मूल्य बताने वाला प्रथम व्यक्ति बताया गया है।

त्रिकोणमिति (कैल्कुलस)

त्रिकोणमति का आधार बोधायन का प्रमेय है। अत: स्वाभाविक रूप से ही त्रिकोणमिति के सिद्धांत भी शुल्ब सूत्रों में दिए गए हैं। भारत के ज्या और कोटिज्या पश्चिम में जाकर साइन और कोसाइन हो गए। वास्तव में ज्या शब्द धनुष की डोरी से आया। आगे के चित्र में ख ग आधे धनुष के जैसा है तथा ग प उसकी डोरी (ज्या) जैसा है। क प को कोटिज्या कहा गया है। वृत्त में अर्द्धव्यास से ज्या (ग प) तथा कोटिज्या (क प) का मान निकालने की पद्धति भारत के गणितज्ञों को ज्ञात थी। यदि कोण ग क प को थ माना जाए, तो आर्यभट्ट (प्रथम) ने कोण थ के हिसाब से ज्या और कोटिज्या का मान निकाला। आर्यभट्ट ने ग प का मान त्रिज्या (क ग) न् ज्या थ तथा ग च (क प) का मान त्रिज्या (क ग) न् कोटिज्या थ बताया। आज की त्रिकोणमिति के अनुसार इन्हें इस प्रकार लिखा जा सकता है-

आर्यभट्ट ने शून्य से ९०० के कोणों के बीच विभिन्न कोणों के लिए ज्या (साइन) के मान निकाल कर उसकी सारिणी भी दी है। भास्कराचार्य की 'लीलावती' में एक रोचक प्रश्न दिया हुआ है- दो बंदर सौ हाथ (एक हाथ उ २० इंच) ऊंचे पेड़ (च छ) पर बैठे हैं। पेड़ की जड़ से दो सौ हाथ दूर एक कुआं (झ) है। एक बंदर पेड़ (०) से उतर कर कुएं तक जाता है।

दूसरा बंदर एक निश्चित ऊंचाई (ज) तक एकदम सीधे ऊपर उछल कर सीधे कुएं तक छलांग लगाता है। यदि दोनों बन्दरों की तय की हुई दूरी समान है (छ च अ च झ उ छ ज अ ज झ) तो दूसरा बन्दर कितना ऊपर उछला अर्थात् छ ज कितना है? यह प्रश्न निश्चित रूप से त्रिकोणमिति का है और इसी से छज की दूरी ५० हाथ आती है। स्पष्ट है कि भास्कराचार्य ने त्रिकोणमिति के सभी सिद्धान्तों (सूत्रों) का वर्णन लीलावती में किया है।

भास्कराचार्य की ही पुस्तक 'सिद्धांत शिरोमणि' के चौथे खण्ड ग्रह-गणित में किसी ग्रह की तात्क्षणिक गति निकालने के

लिए अवकलन (डिफरेन्शिएशन) का प्रयोग किया गया है। यह गणित (कैलकुलस) आधुनिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का आधार है। लाईबटेनिज तथा न्यूटन इसके आविष्कारकर्ता माने जाते हैं। इन दोनों से पांच सौ वर्ष पूर्व भास्कराचार्य ने कैल्कुलस का प्रयोग ग्रहों की गति निकालने के लिए किया था। इस प्रकार गणित के क्षेत्र में प्राचीन भारत की श्रेष्ठता का हमें ज्ञान होता है।

वैदिक गणित :- पुरी के शंकराचार्य भारती कृष्णतीर्थ जी ने ८ वर्ष की साधना से एक नवीन गणितीय पद्धति खोजी, जिसे उन्होंने बिना आंसू का गणित कहा, जो शुष्क, उदास और सतानेवाला नहीं अपितु सरल तथा आनंद देने वाला हो जाता है। अपनी इस पद्धति को उन्होंने वैदिक गणित कहा तथा कहा कि इसका आधार वेद हैं।

उन्होंने १६ मुख्यसूत्र तथा १३ उपसूत्र दिए जिनका अभ्यास करने पर दस प्रकार का गणित-अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, गोलीय त्रिकोणमिति, घन ज्यामिती, समाकल, अवकल तथा कलन इत्यादि सभी प्रकार के प्रश्न चुटकी में हल किए जा सकते हैं। यहां उन्होंने स्पष्ट किया कि वेद मात्र संहिता नहीं है वेद अर्थात् समस्त ज्ञान का स्रोत और असीमित कोष है। इस व्यापक परिधि में वैदिक गणित नाम के सूत्र आते हैं। यद्यपि सूत्र वर्तमान संहिता ग्रंथों में इसी रूप में नहीं मिलते।

इन सूत्रों का अभ्यास होने और इन्हें लागू करने का तरीका जानने पर आश्चर्यजनक परिणाम आते हैं। जगद्गुरु जी ने स्वयं देश के कुछ विश्वविद्यालयों में इसका प्रदर्शन किया। अमरीका में गणित के प्राध्यापकों के बीच जब इसका प्रदर्शन किया और एक जटिल सवाल जो ३-४ पृष्ठों में सिद्ध हो सकता था, उसे पूछते ही उत्तर बोर्ड पर लिखा, तो सभी श्रोता अचंभित हो गए। इंग्लैण्ड के प्रोफेसर निकोलस इसे गणित नहीं जादू कहते हैं। जगद्गुरु भारती कृष्णतीर्थ जी से लोग पूछते थे, ये गणित है या जादू तो वे उत्तर देते हैं कि आप जब तक नहीं जानते तब तक जादू है और जब जान लेते हैं तो गणित।

यह पद्धति यदि प्रारंभ से ही सिखाई जाए तो देश में गणित के अभ्यास में रुचि बढ़ सकती है। अनेक विद्वान आज इस पर शोध कर रहे हैं तथा उसे सीखने की पद्धतियां विकसित कर रहे हैं। वे अद्भुत गणितीय १६ सूत्र तथा १३ उपसूत्र व उनके अर्थ विस्तार से अगले अंग में।

वैदिक गणित के सोलह सूत्र एवं उपसूत्र

जगद्गुरु भारती कृष्ण तीर्थ जी द्वारा प्रतिपादित वैदिक गणित के 16 सूत्र एवं 13 उपसूत्र

16 सूत्र

1. एकाधिकेन पूर्वेण - पहले से एक अधिक के द्वारा
2. निखिलं नवतश्चरमं दशत: - सभी नौ में से तथा अन्तिम दस में से
3. उध्र्वतिर्यक् भ्याम् - सीधे और तिरछे दोनों विधियों से

4. परावर्त्य योजयेत् - विपरीत उपयोग करें।

5. शून्यं साम्यसमुच्चये - समुच्चय समान होने पर शून्य होता है।

6. आनुररूप्ये शून्यमन्यत् - अनुरूपता होने पर दूसरा शून्य होता है।

7. संकलनव्यवकलनाभ्याम् - जोड़कर और घटाकर

8. पूरणापूराणाभ्याम् - पूरा करने और विपरीत क्रिया द्वारा

9. चलनकलनाभ्याम् - चलन-कलन की क्रियाओं द्वारा

10. यावदूनम् - जितना कम है।

11. व्यष्टिसमिष्ट: - एक को पूर्ण और पूर्ण को एक मानते हुए।

12. शेषाण्यङ्केन चरमेण - - अंतिम अंक के सभी शेषों को।

13. सोपान्त्यद्वयमन्त्यम् - अंतिम और उपान्तिम का दुगुना।

14. एकन्यूनेन पूर्वेण - पहले से एक कम के द्वारा।

15. गुणितसमुच्चय: - गुणितों का समुच्चय।

16. गुणकसमुच्चय: - गुणकों का समुच्चय।

उपसूत्र

1. आनुरूप्येण - अनुरूपता के द्वारा।

2. शिष्यते शेषसंज्ञ: - बचे हुए को शेष कहते हैं।

3. आद्यमाद्येनान्त्यमन्त्येन - - पहले को पहले से, अंतिम को अंतिम से।

4. केवलै: सप्तकं गुम्यात् - "क", "व", "ल" से 7 गुणा करें।

5. वेष्टनम् - भाजकता परीक्षण की एक विशिष्ट क्रिया का नाम।

6. यावदूनं तावदूनम् - जितना कम उतना और कम।

7. यावदूनं तावदूनीकृत्य वर्ग च योजयेत्

8. अन्त्ययोर्दशकेऽपि

9. अन्त्ययोरेव

10. समुच्चयगुणित:

11. लोपनस्थापनाभ्याम्

12. विलोकनम्

13. गुणितसमुच्चय: समुच्चयगुणित:

कालगणना-१ : काल का खगोल से सम्बंध

इस सृष्टि की उत्पति कब हुई तथा यह सृष्टि कब तक रहेगी यह प्रश्न मानव मन को युगों से मथते रहे हैं। इनका उत्तर पाने के लिए लिए सबसे पहले काल को समझना पड़ेगा। काल जिसके द्वारा हम घटनाओं-परिवर्तनों को नापते हैं, कबसे प्रारंभ हुआ?

इस सृष्टि की उत्पति कब हुई तथा यह सृष्टि कब तक रहेगी यह प्रश्न मानव मन को युगों से मथते रहे हैं।
आधुनिक काल के प्रख्यात ब्रह्माण्ड विज्ञानी स्टीफन हॉकिन्स ने इस पर एक पुस्तक लिखी - brief history of time (समय का संक्षिप्त इतिहास)। उस पुस्तक में वह लिखता है कि समय कब से प्रारंभ हुआ। वह लिखता है कि सृष्टि और समय एक साथ प्रारंभ हुए जब ब्रह्माण्डोत्पति की कारणीभूत घटना आदिद्रव्य में बिग बैंग (महाविस्फोट) हुआ और इस विस्फोट के साथ ही अव्यक्त अवस्था से ब्रह्माण्ड व्यक्त अवस्था में आने लगा। इसी के साथ समय भी उत्पन्न हुआ। अत: सृष्टि और समय एक साथ प्रारंभ हुए और समय कब तक रहेगा, तो जब तक यह सृष्टि रहेगी, तब तक रहेगा, उसके लोप के साथ लोप होगा। दूसरा प्रश्न कि सृष्टि के पूर्व क्या था? इसके उत्तर में हॉकिन्स कहता है कि वह आज अज्ञात है। पर इसे जानने का एक साधन हो सकता है। कोई तारा जब मरता है तो उसका र्इंधन प्रकाश और ऊर्जा के रूप में समाप्त होने लगता है। तब वह सिकुड़ने लगता है। और भारतवर्ष में ऋषियों ने इस पर चिंतन किया, साक्षात्कार किया। ऋग्वेद के नारदीय सूक्त में सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया कि तब न सत् था न असत् था, न परमाणु था न आकाश, तो उस समय क्या था? तब न मृत्यु थी, न अमरत्व था, न दिन था, न रात थी। उस समय स्पंदन शक्ति युक्त वह एक तत्व था।

सृष्टि पूर्व अंधकार से अंधकार ढंका हुआ था और तप की शक्ति से युक्त एक तत्व था। सर्वप्रथम
हमारे यहां ऋषियों ने काल की परिभाषा करते हुए कहा है "कलयति सर्वाणि भूतानि", जो संपूर्ण ब्रह्माण्ड को, सृष्टि को खा जाता है। साथ ही कहा कि यह ब्रह्माण्ड एक बार बना और नष्ट हुआ, ऐसा नहीं होता। अपितु उत्पत्ति और लय पुन: उत्पत्ति और लय यह चक्र चलता रहता है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, परिवर्तन और लय के रूप में विराट कालचक्र चल रहा है। काल के इस सर्वग्रासी रूप का वर्णन भारत में और पश्चिम में अनेक कवियों ने किया है। हमारे यहां इसको व्यक्त करते हुए महाकवि क्षेमेन्द्र कहते हैं-

अहो कालसमुद्रस्य न लक्ष्यन्ते तिसंतता:।
मज्जन्तोन्तरनन्तस्य युगान्ता: पर्वता इव।।

अर्थात्-काल के महासमुद्र में कहीं संकोच जैसा अन्तराल नहीं, महाकाय पर्वतों की तरह बड़े-बड़े युग उसमें समाहित हो जाते हैं। पश्चिम में 1990 में नोबल पुरस्कार प्राप्त कवि आक्टोवियो पाज अपनी कविता Into the matter में काल के सर्वभक्षी रूप का वर्णन निम्न प्रकार से करते हैं।

A clock strikes the time
now its time
it is not time now, not it is now
now it is time to get rid of time

now it is not time
it is time and not now
time eats the now
now its time
windows close
walls closed doors close
the words gøo home
Nowwe are more alone.....1

अर्थात्

"काल यंत्र बताता है काल

आ गया आज, काल।

आज में काल नहीं, काल में आज नहीं,

काल को विदा देने का काल है आज।

काल है, आज नहीं,

काल निगलता है आज को।

आज है वह काल

वातायन बंद हो रहे हैं

दीवार है बंद

द्वार बन्द हो रहे हैं

वैखरी पहुंच रही है स्व निकेत

हम तो अब हैं अकेले"

इस काल को नापने का सूक्ष्मतम और महत्तम माप हमारे यहां कहा गया है।

श्रीमद्भागवत में प्रसंग आता है कि जब राजा परीक्षित महामुनि शुकदेव से पूछते हैं, काल क्या है? उसका सूक्ष्मतम और महत्तम रूप क्या है? तब इस प्रश्न का शुकदेव मुनि जो उत्तर देते हैं वह आश्चर्य जनक है, क्योंकि आज के आधुनिक युग में हम जानते हैं कि काल अमूर्त तत्व है। घटने वाली घटनाओं से हम उसे जानते हैं। आज से हजारों वर्ष पूर्व शुकदेव मुनि ने कहा- "विषयों का रूपान्तर" (बदलना) ही काल का आकार है। उसी को निमित्त बना वह काल तत्व अपने को अभिव्यक्त करता है। वह अव्यक्त से व्यक्त होता है।"

काल गणना

इस काल का सूक्ष्मतम अंश परमाणु है तथा महत्तम अंश ब्राह्म आयु है। इसको विस्तार से बताते हुए शुक मुनि उसके विभिन्न माप बताते हैं:-

2 परमाणु- 1 अणु - 15 लघु - 1 नाड़िका
3 अणु - 1 त्रसरेणु - 2 नाड़िका - 1 मुहूत्र्त
3 त्रसरेणु- 1 त्रुटि - 30 मुहूत्र्त - 1 दिन रात
100 त्रुटि- 1 वेध - 7 दिन रात - 1 सप्ताह
3 वेध - 1 लव - 2 सप्ताह - 1 पक्ष
3 लव- 1 निमेष - 2 पक्ष - 1 मास
3 निमेष- 1 क्षण - 2 मास - 1 ऋतु
5 क्षण- 1 काष्ठा - 3 ऋतु - 1 अयन
15 काष्ठा - 1 लघु - 2 अयन - 1 वर्ष

शुक मुनि की गणना से एक दिन रात में 3280500000 परमाणु काल होते हैं तथा एक दिन रात में 86400 सेकेण्ड होते हैं। इसका अर्थ सूक्ष्मतम माप यानी 1 परमाणु काल 1 सेकंड का 37968 वां हिस्सा।

महाभारत के मोक्षपर्व में अ. 231 में कालगणना - निम्न है:-

15 निमेष - 1 काष्ठा
30 काष्ठा -1 कला
30 कला- 1 मुहूत्र्त
30 मुहूत्र्त- 1 दिन रात

दोनों गणनाओं में थोड़ा अन्तर है। शुक मुनि के हिसाब से 1 मुहूर्त में 450 काष्ठा होती है तथा महाभारत की गणना के हिसाब से 1 मुहूर्त में 900 काष्ठा होती हैं। यह गणना की भिन्न पद्धतियों को परिलक्षित करती है।

यह सामान्य गणना के लिए माप है। पर ब्रह्माण्ड की आयु के लिए, ब्रह्माण्ड में होने वाले परिवर्तनों को मापने के लिए बड़ी

कलियुग - 432000 वर्ष
2 कलियुग - द्वापरयुग - 864000 वर्ष
3 कलियुग - त्रेतायुग - 1296000 वर्ष
4 कलियुग - सतयुग - 1728000 वर्ष

चारों युगों की 1 चतुर्युगी - 4320000
71 चतुर्युगी का एक मन्वंतर - 306720000
14 मन्वंतर तथा संध्यांश के 15 सतयुग
का एक कल्प यानी - 4320000000 वर्ष

एक कल्प यानी ब्रह्मा का एक दिन, उतनी ही बड़ी उनकी रात इस प्रकार 100 वर्ष तक एक ब्रह्मा की आयु। और जब एक ब्रह्मा मरता है तो भगवान विष्णु का एक निमेष (आंख की पलक झपकने के काल को निमेष कहते हैं) होता है और विष्णु के बाद रुद्र का काल आरम्भ होता है, जो स्वयं कालरूप है और अनंत है, इसीलिए कहा जाता है कि काल अनन्त है।

शुकदेव महामुनि द्वारा वर्णित इस वर्णन को पढ़कर मन में प्रश्न आ सकता है कि ये सब वर्णन कपोलकल्पना है, बुद्धिविलास है। आज के वैज्ञानिक युग में इन बातों की क्या अहमियत है। परन्तु ये सब वर्ण कपोलकल्पना नहीं अपितु इसका सम्बंध खगोल के साथ है। भारतीय कालगणना खगोल पिण्डों की गति के सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर प्रतिपल, प्रतिदिन होने वाले उसके परिवर्तनों, उसकी गति के आधार पर यानी ठोस वैज्ञानिक सच्चाईयों के आधार पर निर्धारित हुई है। जबकि आज विश्व में प्रचलित ईसवी सन् की कालगणना में केवल एक बात वैज्ञानिक है कि उसका वर्ष पृथ्वी के सूर्य की परिक्रमा करने में लगने वाले समय पर आधारित है। बाकी उसमें माह तथा दिन का दैनंदिन खगोल गति से कोई सम्बंध नहीं है। जबकि भारतीय गणना का प्रतिक्षण, प्रतिदिन, खगोलीय गति से सम्बंध है।

कालगणना-२ पश्चिमी और भारतीय कालगणना का अंतर

लेखक - सुरेश सोनी

पाश्चात्य कालगणना

चिल्ड्रन्स ब्रिटानिका Vol 3-1964 में कैलेंडर के संदर्भ में उसके संक्षिप्त इतिहास का वर्णन किया गया है। कैलेंडर यानी समय विभाजन का तरीका-वर्ष, मास, दिन, का आधार, पृथ्वी की गति और चन्द्र की गति के आधार पर करना। लैटिन में Moon के लिए Luna शब्द है, अत: Lunar Month कहते हैं। लैटिन में Sun के लिए Sol शब्द है, अत: Solar Year वर्ष कहते हैं। आजकल इसका माप 365 दिन 5 घंटे 48 मिनिट व 46 सेकेण्ड है। चूंकि सौर वर्ष और चन्द्रमास का तालमेल नहीं है, अत: अनेक देशों में गड़बड़ रही।

दूसरी बात, समय का विभाजन ऐतिहासिक घटना के आधार पर करना। ईसाई मानते हैं कि ईसा का जन्म इतिहास की निर्णायक घटना है, इस आधार पर इतिहास को वे दो हिस्सों में विभाजित करते हैं। एक बी.सी. तथा दूसरा ए.डी.। B.C. का अर्थ है Before Christ - यह ईसा के उत्पन्न होने से पूर्व की घटनाओं पर लागू होता है। जो घटनाएं ईसा के जन्म के बाद हुइं उन्हें A.D. कहा जाता है जिसका अर्थ है Anno Domini अर्थात् In the year of our Lord. यह अलग बात है कि यह पद्धति ईसा के जन्म के बाद कुछ सदी तक प्रयोग में नहीं आती थी।

रोमन कैलेण्डर-आज के ई। सन् का मूल रोमन संवत् है जो ईसा के जन्म से 753 वर्ष पूर्व रोम नगर की स्थापना के साथ प्रारंभ हुआ। प्रारंभ में इसमें दस माह का वर्ष होता था, जो मार्च से दिसम्बर तक चलता था तथा 304 दिन होते थे।

बाद में राजा नूमा पिम्पोलियस ने इसमें दो माह Jonu Arius और Februarius जोड़कर वर्ष 12 माह का बनाया तथा इसमें दिन हुए 355, पर आगे के वर्षों में ग्रहीय गति से इनका अंतर बढ़ता गया, तब इसे ठीक 46 बी.सी. करने के लिए जूलियस सीजर ने वर्ष को 365 1/4 दिन का करने हेतु नये कैलेंडर का आदेश दिया तथा उस समय के वर्ष को कहा कि इसमें 445 1/4 दिन होंगे ताकि पूर्व में आया अंतर ठीक हो सके। इसलिए उस वर्ष यानी 46 बी.सी. को इतिहास में संभ्रम का वर्ष (Year of confusion) कहते हैं।

जूलियन कैलेंडर- जूलियस सीजर ने वर्ष को 365 1/4 दिन का करने के लिए एक व्यवस्था दी। क्रम से 31 व 30 दिन के माह निर्धारित किए तथा फरवरी 29 दिन की। Leap Year में फरवरी भी 30 दिन की कर दी। इसी के साथ इतिहास में अपना नाम अमर करने के लिए उसने वर्ष के सातवें महीने के पुराने नाम Quinitiles को बदलकर अपने नाम पर जुलाई किया, जो 31 दिन का था। बाद में सम्राट आगस्टस हुआ; उसने भी अपना नाम इतिहास में अमर करने हेतु आठवें महीने Sextilis का नाम बदलकर उस माह का नाम अगस्त किया। उस समय अगस्त 30 दिन का होता था पर-"सीजर से मैं छोटा नहीं", यह दिखाने के लिए फरवरी के माह जो उस समय 29 दिन का होता था जो एक दिन लेकर अगस्त भी 31 दिन का किया। तब से मास और दिन की संख्या वैसी ही चली आ रही है।

ग्रेगोरियन कैलेंडर - 16 वीं सदी में जूलियन कैलेन्डर में 10 दिन बढ़ गए और चर्च फेस्टीवल ईस्टर आदि गड़बड़ आने लगे, तब पोप ग्रेगोरी त्रयोदश ने 1582 के वर्ष में इसे ठीक करने के लिए यह हुक्म जारी किया कि 4 अक्तूबर को आगे 15 अक्तूबर माना जाए। वर्ष का आरम्भ 25 मार्च की बजाय 1 जनवरी से करने को कहा। रोमन कैथोलिकों ने पोप के आदेश को तुरन्त माना, पर प्रोटेस्टेंटों ने धीरे-धीरे माना। ब्रिटेन जूलियन कैलेंडर मानता रहा और 1752 तक उसमें 11 दिन का अंतर आ गया। अत: उसे ठीक करने के लिए 2 सितम्बर के बाद अगला दिन 14 सितम्बर कहा गया। उस समय लोग नारा लगाते थे "Criseus back our 11 days"। इग्लैण्ड के बाद बुल्गारिया ने 1918 में और ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च ने 1924 में ग्रेगोरियन कैलेण्डर माना।

भारत में कालगणना का इतिहास

भारतवर्ष में ग्रहीय गतियों का सूक्ष्म अध्ययन करने की परम्परा रही है तथा कालगणना पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य की गति के आधार पर होती रही तथा चंद्र और सूर्य गति के अंतर को पाटने की भी व्यवस्था अधिक मास आदि द्वारा होती रही है। संक्षेप में काल की विभिन्न इकाइयां एवं उनके कारण निम्न प्रकार से बताये गये-

दिन अथवा वार- सात दिन- पृथ्वी अपनी धुरी पर १६०० कि.मी. प्रति घंटा की गति से घूमती है, इस चक्र को पूरा करने में उसे २४ घंटे का समय लगता है। इसमें १२ घंटे पृथ्वी का जो भाग सूर्य के सामने रहता है उसे अह: तथा जो पीछे रहता है उसे रात्र कहा गया। इस प्रकार १२ घंटे पृथ्वी का पूर्वार्द्ध तथा १२ घंटे उत्तरार्द्ध सूर्य के सामने रहता है। इस प्रकार १ अहोरात्र में २४ होरा होते हैं। ऐसा लगता है कि अंग्रेजी भाषा का ण्दृद्वद्ध शब्द ही होरा का अपभ्रंश रूप है। सावन दिन को भू दिन भी कहा गया।

सौर दिन-पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा 1 लाख कि.मी. प्रति घंटा की रफ्तार से कर रही है। पृथ्वी का 10 चलन सौर दिन कहलाता है।

चान्द्र दिन या तिथि- चान्द्र दिन को तिथि कहते हैं। जैसे एकम्, चतुर्थी, एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि। पृथ्वी की परिक्रमा करते समय चन्द्र का 12 अंश तक चलन एक तिथि कहलाता है।

सप्ताह- सारे विश्व में सप्ताह के दिन व क्रम भारत वर्ष में खोजे गए क्रम के अनुसार ही हैं। भारत में पृथ्वी से उत्तरोत्तर दूरी के आधार पर ग्रहों का क्रम निर्धारित किया गया, यथा- शनि, गुरु, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुद्ध और चन्द्रमा। इनमें चन्द्रमा पृथ्वी के सबसे पास है तो शनि सबसे दूर। इसमें एक-एक ग्रह दिन के 24 घंटों या होरा में एक-एक घंटे का अधिपति रहता है। अत: क्रम से सातों ग्रह एक-एक घंटे अधिपति, यह चक्र चलता रहता है और 24 घंटे पूरे होने पर अगले दिन के पहले घंटे का जो अधिपति ग्रह होगा, उसके नाम पर दिन का नाम रखा गया। सूर्य से सृष्टि हुई, अत: प्रथम दिन रविवार मानकर ऊपर क्रम से शेष वारों का नाम रखा गया।

निम्न तालिका से सातों दिनों के क्रम को हम सहज समझ सकते हैं-

चन्द्र	**बुध**	**शुक्र**	**सूर्य**	**मंगल**	**बृह.**	**शनि**
४	३	२	रवि १	-	-	-
११	१०	९	८	७	६	५
१८	१७	१६	१५	१४	१३	१२
सोम १	२४	२३	२२	२१	२०	१९
८	७	६	५	४	३	२
१५	१४	१३	१२	११	१०	९
२२	२१	२०	१९	१८	१७	१६
५	४	३	२	मंगल १	२४	२३
१२	११	१०	९	८	७	६
१९	१८	१७	१६	१५	१४	१३
२	बुध १	२४	२३	२२	२१	२०

९	८	७	६	५	४	३
१६	१५	१४	१३	१२	११	१०
२३	२२	२१	२०	१९	१८	१७
६	५	४	३	२	बृह.१	२४
१३	१२	११	१०	९	८	७
२०	१९	१८	१७	१६	१५	१४
३	२	शुक्र १	२४	२३	२२	२१
१०	९	८	७	६	५	४
१७	१६	१५	१४	१३	१२	११
२४	२३	२२	२१	२०	१९	१८

शनि १

पक्ष-पृथ्वी की परिक्रमा में चन्द्रमा का १२ अंश चलना एक तिथि कहलाता है। अमावस्या को चन्द्रमा पृथ्वी तथा सूर्य के मध्य रहता है। इसे ० (अंश) कहते हैं। यहां से १२ अंश चलकर जब चन्द्रमा सूर्य से १८० अंश अंतर पर आता है, तो उसे पूर्णिमा कहते हैं। इस प्रकार एकम् से पूर्णिमा वाला पक्ष शुक्ल पक्ष कहलाता है तथा एकम् से अमावस्या वाला पक्ष कृष्ण पक्ष कहलाता है।

मास- कालगणना के लिए आकाशस्थ २७ नक्षत्र माने गए (१) अश्विनी (२) भरणी (३) कृत्तिका (४) रोहिणी (५) मृगशिरा (६) आर्द्रा (७) पुनर्वसु (८) पुष्य (९) आश्लेषा (१०) मघा (११) पूर्व फाल्गुन (१२) उत्तर फाल्गुन (१३) हस्त (१४) चित्रा (१५) स्वाति (१६) विशाखा (१७) अनुराधा (१८) ज्येष्ठा (१९) मूल (२०) पूर्वाषाढ़ (२१) उत्तराषाढ़ (२२) श्रवणा (२३) धनिष्ठा (२४) शतभिषाक (२५) पूर्व भाद्रपद (२६) उत्तर भाद्रपद (२७) रेवती।

२७ नक्षत्रों में प्रत्येक के चार पाद किए गए। इस प्रकार कुल १०८ पाद हुए। इनमें से नौ पाद की आकृति के अनुसार १२ राशियों के नाम रखे गए, जो निम्नानुसार हैं-

(१) मेष (२) वृष (३) मिथुन (४) कर्क (५) सिंह (६) कन्या (७) तुला (८) वृश्चिक (९) धनु (१०) मकर (११) कुंभ (१२) मीन। पृथ्वी पर इन राशियों की रेखा निश्चित की गई, जिसे क्रांति कहते है। ये क्रांतियां विषुव वृत्त रेखा से २४ उत्तर में तथा २४ दक्षिण में मानी जाती हैं। इस प्रकार सूर्य अपने परिभ्रमण में जिस राशि चक्र में आता है, उस क्रांति के नाम पर सौर मास है। यह साधारणत: वृद्धि तथा क्षय से रहित है।

चान्द्र मास- जो नक्षत्र मास भर सायंकाल से प्रात: काल तक दिखाई दे तथा जिसमें चन्द्रमा पूर्णता प्राप्त करे, उस नक्षत्र के नाम पर चान्द्र मासों के नाम पड़े हैं- (१) चित्रा (२) विशाखा (३) ज्येष्ठा (४) अषाढ़ा (५) श्रवण (६) भाद्रपद (७) अश्विनी (८) कृत्तिका (९) मृगशिरा (१०) पुष्य (११) मघा (१२) फाल्गुनी। अत: इसी आधार पर चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, अश्विनी, कृत्तिका, मार्गशीर्ष, पौष, माघ तथा फाल्गुन-ये चन्द्र मासों के नाम पड़े।

उत्तरायण और दक्षिणायन-पृथ्वी अपनी कक्षा पर २३ ह अंश उत्तर पश्चिमी में झुकी हुई है। अत: भूमध्य रेखा से २३ ह अंश उत्तर व दक्षिण में सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं। सूर्य किरणों का लम्बवत् पड़ना संक्रान्ति कहलाता है। इसमें २३ ह अंश उत्तर को कर्क रेखा कहा जाता है तथा दक्षिण को मकर रेखा कहा जाता है। भूमध्य रेखा को ०० अथवा विषुव वृत्त रेखा कहते हैं। इसमें कर्क संक्रान्ति को उत्तरायण एवं मकर संक्रान्ति को दक्षिणायन कहते हैं।

वर्षमान- पृथ्वी सूर्य के आस-पास लगभग एक लाख कि.मी. प्रति घंटे की गति से १६६०००००० कि.मी. लम्बे पथ का ३६५ ह दिन में एक चक्र पूरा करती है। इस काल को ही वर्ष माना गया।

कालगणना-३ : आदि से अंत तक जानने की अनूठी भारतीय विधि

लेखक - सुरेश सोनी

युगमान- 4,32,000 वर्ष में सातों ग्रह अपने भोग और शर को छोड़कर एक जगह आते हैं। इस युति के काल को कलियुग कहा गया। दो युति को द्वापर, तीन युति को त्रेता तथा चार युति को सतयुग कहा गया। चतुर्युगी में सातों ग्रह भोग एवं शर सहित एक ही दिशा में आते हैं।

वर्तमान कलियुग का आरंभ भारतीय गणना से ईसा से 3102 वर्ष पूर्व 20 फरवरी को 2 बजकर 27 मिनट तथा 30 सेकेंड पर हुआ था। उस समय सभी ग्रह एक ही राशि में थे। इस संदर्भ में यूरोप के प्रसिद्ध खगोलवेत्ता बेली का कथन दृष्टव्य है-

"हिन्दुओं की खगोलीय गणना के अनुसार विश्व का वर्तमान समय यानी कलियुग का आरम्भ ईसा के जन्म से 3102 वर्ष पूर्व 20 फरवरी को 2 बजकर 27 मिनट तथा 30 सेकेंड पर हुआ था। इस प्रकार यह कालगणना मिनट तथा सेकेण्ड तक की गई। आगे वे यानी हिन्दू कहते हैं, कलियुग के समय सभी ग्रह एक ही राशि में थे तथा उनके पञ्चांग या टेबल भी यही बताते हैं। ब्राह्मणों द्वारा की गई गणना हमारे खगोलीय टेबल द्वारा पूर्णत: प्रमाणित होती है। इसका कारण और कोई नहीं, अपितु ग्रहों के प्रत्यक्ष निरीक्षण के कारण यह समान परिणाम निकला है।"। (Theogony of Hindus, by Bjornstjerna P. 32)

वैदिक ऋषियों के अनुसार वर्तमान सृष्टि पंच मण्डल क्रम वाली है। चन्द्र मंडल, पृथ्वी मंडल, सूर्य मंडल, परमेष्ठी मंडल और स्वायम्भू मंडल। ये उत्तरोत्तर मण्डल का चक्कर लगा रहे हैं।

मन्वन्तर मान- सूर्य मण्डल के परमेष्ठी मंडल (आकाश गंगा) के केन्द्र का चक्र पूरा होने पर उसे मन्वन्तर काल कहा गया। इसका माप है 30,67,20,000 (तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्ष। एक से दूसरे मन्वन्तर के बीच 1 संध्यांश सतयुग के बराबर होता है। अत: संध्यांश सहित मन्वन्तर का माप हुआ 30 करोड़ 84 लाख 48 हजार वर्ष। आधुनिक मान के अनुसार सूर्य 25 से 27 करोड़ वर्ष में आकाश गंगा के केन्द्र का चक्र पूरा करता है।

कल्प- परमेष्ठी मंडल स्वायम्भू मंडल का परिभ्रमण कर रहा है। यानी आकाश गंगा अपने से ऊपर वाली आकाश गंगा का चक्कर लगा रही है। इस काल को कल्प कहा गया। यानी इसका माप है 4 अरब 32 करोड़ वर्ष (4,32,00,00,000)। इसे ब्रह्मा का एक दिन कहा गया। जितना बड़ा दिन, उतनी बड़ी रात, अत: ब्रह्मा का अहोरात्र यानी 864 करोड़ वर्ष हुआ।

ब्रह्मा का वर्ष यानी 31 खरब 10 अरब 40 करोड़ वर्ष
ब्रह्मा की 100 वर्ष की आयु अथवा ब्रह्माण्ड की आयु- 31 नील 10 अरब 40 अरब वर्ष (31,10,40,000000000 वर्ष)

भारतीय मनीषा की इस गणना को देखकर यूरोप के प्रसिद्ध ब्रह्माण्ड विज्ञानी कार्ल सेगन ने अपनी पुस्तक "क्दृद्मथ्र्दृद्म" में कहा "विश्व में हिन्दू धर्म एकमात्र ऐसा धर्म है जो इस विश्वास पर समर्पित है कि इस ब्रह्माण्ड में उत्पत्ति और क्षय की एक सतत प्रक्रिया चल रही है और यही एक धर्म है, जिसने समय के सूक्ष्मतम से लेकर बृहत्तम माप, जो समान्य दिन-रात से लेकर 8 अरब 64 करोड़ वर्ष के ब्राह्म दिन रात तक की गणना की है, जो संयोग से आधुनिक खगोलीय मापों के निकट है। यह गणना पृथ्वी व सूर्य की उम्र से भी अधिक है तथा इनके पास और भी लम्बी गणना के माप है।" कार्ल सेगन ने इसे संयोग कहा है यह ठोस ग्रहीय गणना पर आधारित है।

ऋषियों की अद्भुत खोज

हमारे पूर्वजों ने जहां खगोलीय गति के आधार पर काल का मापन किया, वहीं काल की अनंत यात्रा और वर्तमान समय तक उसे जोड़ना तथा समाज में सर्वसामान्य व्यक्ति को इसका ध्यान रहे इस हेतु एक अद्भुत व्यवस्था भी की थी, जिसकी ओर साधारणतया हमारा ध्यान नहीं जाता है। हमारे देश में कोई भी कार्य होता हो चाहे वह भूमिपूजन हो, वास्तुनिर्माण का प्रारंभ हो- गृह प्रवेश हो, जन्म, विवाह या कोई भी अन्य मांगलिक कार्य हो, वह करने के पहले कुछ धार्मिक विधि करते हैं। उसमें सबसे पहले संकल्प कराया जाता है। यह संकल्प मंत्र यानी अनंत काल से आज तक की समय की स्थिति बताने वाला मंत्र है। इस दृष्टि से इस मंत्र के अर्थ पर हम ध्यान देंगे तो बात स्पष्ट हो जायेगी।

संकल्प मंत्र में कहते हैं....

ॐ अस्य श्री विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य ब्राह्मणां द्वितीये परार्धे- अर्थात् महाविष्णु द्वारा प्रवर्तित अनंत कालचक्र में वर्तमान ब्रह्मा की आयु का द्वितीय परार्ध-वर्तमान ब्रह्मा की आयु के 50 वर्ष पूरे हो गये हैं। श्वेत वाराह कल्पे-कल्प याने ब्रह्मा के 51 वें वर्ष का पहला दिन है।

वैवस्वतमन्वंतरे- ब्रह्मा के दिन में 14 मन्वंतर होते हैं उसमें सातवां मन्वंतर वैवस्वत मन्वंतर चल रहा है।

अष्टाविंशतितमे कलियुगे- एक मन्वंतर में 71 चतुर्युगी होती हैं, उनमें से 28 वीं चतुर्युगी का कलियुग चल रहा है।

कलियुगे प्रथमचरणे- कलियुग का प्रारंभिक समय है।

कलिसंवते या युगाब्दे- कलिसंवत् या युगाब्द वर्तमान में 5104 चल रहा है।

जम्बु द्वीपे, ब्रह्मावर्त देशे, भारत खंडे- देश प्रदेश का नाम

अमुक स्थाने - कार्य का स्थान
अमुक संवत्सरे - संवत्सर का नाम
अमुक अयने - उत्तरायन/दक्षिणायन
अमुक ऋतौ - वसंत आदि छह ऋतु हैं
अमुक मासे - चैत्र आदि 12 मास हैं
अमुक पक्षे - पक्ष का नाम (शुक्ल या कृष्ण पक्ष)
अमुक तिथौ - तिथि का नाम
अमुक वासरे - दिन का नाम
अमुक समये - दिन में कौन सा समय
अमुक - व्यक्ति - अपना नाम, फिर पिता का नाम, गोत्र तथा किस उद्देश्य से कौन सा काम कर रहा है, यह बोलकर संकल्प करता है।

इस प्रकार जिस समय संकल्प करता है, उस समय से अनंत काल तक का स्मरण सहज व्यवहार में भारतीय जीवन पद्धति में इस व्यवस्था के द्वारा आया है।

काल की सापेक्षता - आइंस्टीन ने अपने सापेक्षता सिद्धांत में दिक् व काल की सापेक्षता प्रतिपादित की। उसने कहा, विभिन्न ग्रहों पर समय की अवधारणा भिन्न-भिन्न होती है। काल का सम्बन्ध ग्रहों की गति से रहता है। इस प्रकार अलग-अलग ग्रहों पर समय का माप भिन्न रहता है।

समय छोटा-बड़ा रहता है। इसकी जानकारी के संकेत हमारे ग्रंथों में मिलते हैं। पुराणों में कथा आती है कि रैवतक राजा की पुत्री रेवती बहुत लम्बी थी, अत: उसके अनुकूल वर नहीं मिलता था। इसके समाधान हेतु राजा योग बल से अपनी पुत्री को लेकर ब्राह्लोक गये। वे जब वहां पहुंचे तब वहां गंधर्वगान चल रहा था। अत: वे कुछ क्षण रुके। जब गान पूरा हुआ तो ब्रह्मा ने राजा को देखा और पूछा कैसे आना हुआ? राजा ने कहा मेरी पुत्री के लिए किसी वर को आपने पैदा किया है या नहीं? ब्रह्मा जोर से हंसे और कहा, जितनी देर तुमने यहां गान सुना, उतने समय में पृथ्वी पर 27 चर्तुयुगी बीत चुकी हैं और 28 वां द्वापर समाप्त होने वाला है। तुम वहां जाओ और कृष्ण के भाई बलराम से इसका विवाह कर देना। साथ ही उन्होंने कहा कि यह अच्छा हुआ कि रेवती को तुम अपने साथ लेकर आये। इस कारण इसकी आयु नहीं बढ़ी।

यह कथा पृथ्वी से ब्राह्लोक तक विशिष्ट गति से जाने पर समय के अंतर को बताती है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी कहा कि यदि एक व्यक्ति प्रकाश की गति से कुछ कम गति से चलने वाले यान में बैठकर जाए तो उसके शरीर के अंदर परिवर्तन की प्रक्रिया प्राय: स्तब्ध हो जायेगी। यदि एक दस वर्ष का व्यक्ति ऐसे यान में बैठकर देवयानी आकाशगंगा (Andromeida Galaz) की ओर जाकर वापस आये तो उसकी उमर में केवल 56 वर्ष बढ़ेंगे किन्तु उस अवधि में पृथ्वी पर 40 लाख वर्ष बीत गये होंगे।

योगवासिष्ठ आदि ग्रंथों में योग साधना से समय में पीछे जाना और पूर्वजन्मों का अनुभव तथा भविष्य में जाने के अनेक वर्णन मिलते हैं।

पश्चिमी जगत में जार्ज गेमोव ने अपनी पुस्तक one, two, three, infinity में इस समय में आगे-पीछे जाने के संदर्भ में एक विनोदी कविता लिखी थी-

There was a young girl named liss Bright
who could travel much faster than light
She departed one day
in an Einstein way
and came back on the previous night

अर्थात्- एक युवा लड़की, जिसका नाम मिस ब्राइट था, वह प्रकाश से भी अधिक वेग से यात्रा कर सकती थी। एक दिन वह आइंस्टीन विधि से यात्रा पर निकली और बीती रात्रि में वापस लौट आई।

सम्वत्सर की वैज्ञानिकता

लेखक - डा. गौरीनाथ रस्तोगी

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक पश्चिमी देशों में उनके अपने धर्म-ग्रन्थों के अनुसार मानव सृष्टि को मात्र पांच हजार वर्ष पुराना बताया जाता था। जबकि इस्लामी दर्शन में इस विषय पर स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा गया है। पाश्चात्य जगत के वैज्ञानिक भी अपने धर्म-ग्रन्थों की भांति ही यही राग अलापते रहे कि मानवीय सृष्टि का बहुत प्राचीन नहीं है। इसके विपरीत हिन्दू जीवन-दर्शन के अनुसार इस सृष्टि का प्रारम्भ हुए १ अरब, ९७ करोड़, २९ लाख, ४९ हजार, १० वर्ष बीत चुके हैं और अब चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से उसका १ अरब, ९७ करोड़, २९ लाख, ४९ हजार, ११वां वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। भूगर्भ से सम्बन्धित नवीनतम आविष्कारों के बाद तो पश्चिमी विद्वान और वैज्ञानिक भी इस तथ्य की पुष्टि करने लगे हैं कि हमारी यह सृष्टि प्राय: २ अरब वर्ष पुरानी है।

अपने देश में हेमाद्रि संकल्प में की गयी सृष्टि की व्याख्या के आधार पर इस समय स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष नामक छह मन्वन्तर पूर्ण होकर अब वैवस्वत मन्वन्तर के २७ महायुगों के कालखण्ड के बाद अट्ठाइसवें

महायुग के सतयुग, त्रेता, द्वापर नामक तीन युग भी अपना कार्यकाल पूरा कर चौथे युग अर्थात कलियुग के ५०११वें सम्वत् का प्रारम्भ हो रहा है। इसी भांति विक्रम संवत् २०६६ का भी श्रीगणेश हो रहा है।

हिन्दू जीवन-दर्शन की मान्यता है कि सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्मा जी द्वारा प्रारम्भ की गयी मानवीय सृष्टि की कालगणना के अनुसार भारत में प्रचलित सम्वत्सर केवल हिन्दुओं, भारतवासियों का ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण संसार या समस्त मानवीय सृष्टि का सम्वत्सर है। इसलिए यह सकल ब्रह्माण्ड के लिए नव वर्ष के आगमन का सूचक है।

ब्रह्मा जी प्रणीत यह कालगणना निसर्ग अथवा प्रकृति पर आधारित होने के कारण पूरी तरह वैज्ञानिक है। अत: नक्षत्रों को आधार बनाकर जहां एक ओर विज्ञानसम्मत चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कात्तिर्क, मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन नामक १२ मासों का विधान एक वर्ष में किया गया है, वहीं दूसरी ओर सप्ताह के सात दिवसों यथा रविवार, सोमवार, मंगलवार, बुधवार, बृहस्पतिवार, शुक्रवार तथा शनिवार का नामकरण भी ब्रह्मा जी ने विज्ञान के आधार पर किया है।

आधुनिक समय में सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित ईसाइयत के ग्रेगेरियन कैलेण्डर को दृष्टिपथ में रखकर अज्ञानी जनों द्वारा प्राय: यह प्रश्न किया जाता है कि ब्रह्मा जी ने आधा चैत्र मास व्यतीत हो जाने पर नव सम्वत्सर और सूर्योदय से नवीन दिवस का प्रारम्भ होने का विधान क्यों किया है? इसी भांति सप्ताह का प्रथम दिवस सोमवार न होकर रविवार ही क्यों निर्धारित किया गया है? जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ब्रह्मा जी ने इस मानवीय सृष्टि की रचना तथा कालगणना का पूरा उपक्रम निसर्ग अथवा प्रकृति से तादात्म्य रखकर किया है। इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि 'चैत्रमासे जगत् ब्रह्मा संसर्ज प्रथमेऽहनि, शुक्ल पक्षे समग्रे तु तदा सूर्योदय सति।' चैत्र मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम दिवस को सूर्योदय से कालगणना का औचित्य इस तथ्य में निहित है कि सूर्य, चन्द्र, मंगल, पृथ्वी, नक्षत्रों आदि की रचना से पूर्व सम्पूर्ण त्रैलोक्य में घटाटोप अन्धकार छाया हुआ था। दिनकर की सृष्टि के साथ इस धरा पर न केवल प्रकाश प्रारम्भ हुआ अपितु भगवान् आदित्य की जीवनदायिनी ऊर्जा शक्ति के प्रभाव से पृथ्वी तल पर जीव-जगत का जीवन भी सम्भव हो सका। चैत्र कृष्ण प्रतिपदा के स्थान पर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से वर्ष का आरम्भ, अर्द्धरात्रि के स्थान पर सूर्योदय से दिवस परिवर्तन की व्यवस्था तथा रविवार को सप्ताह का प्रथम दिवस घोषित करने का वैज्ञानिक आधार तिमिराच्छन्न अन्धकार को विदीर्ण कर प्रकाश की अनुपम छटा बिखेरने के साथ सृजन को सम्भव बनाने की भगवान् भुवन भास्कर की अनुपमेय शक्ति में निहित है। वैसे भी इंग्लैण्ड के ग्रीनविच नामक स्थान से दिन परिवर्तन की व्यवस्था में अर्द्ध रात्रि के १२ बजे को आधार इसलिए बनाया गया है; क्योंकि जब इंग्लैण्ड में रात्रि के १२ बजते हैं, तब भारत में भगवान् सूर्यदेव की अगवानी करने के लिए प्रात: ५.३० बजे होते हैं।

वारों के नामकरण की विज्ञान सम्मत प्रक्रिया में ब्रह्मा जी ने स्पष्ट किया कि आकाश में ग्रहों की स्थिति सूर्य से प्रारम्भ होकर क्रमश: बुध, शुक्र, चन्द्र, मंगल, गुरु और शनि की है। पृथ्वी के उपग्रह चन्द्रमा सहित इन्हीं अन्य छह ग्रहों को साथ लेकर ब्रह्मा जी ने सप्ताह के सात दिनों का नामकरण किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि पृथ्वी अपने उपग्रह चन्द्रमा सहित स्वयं एक ग्रह है, किन्तु पृथ्वी पर उसके नाम से किसी दिवस का नामकरण नहीं किया जायेगा; किन्तु उसके

उपग्रह चन्द्रमा को इस नामकरण में इसलिए स्थान दिया जायेगा; क्योंकि पृथ्वी के निकटस्थ होने के कारण चन्द्रमा आकाशमण्डल की रश्मियों को पृथ्वी तक पहुँचाने में संचार उपग्रह का कार्य सम्पादित करता है और उससे मानवीय जीवन बहुत गहरे रूप में प्रभावित होता है। लेकिन पृथ्वी पर यह गणना करते समय सूर्य के स्थान पर चन्द्र तथा चन्द्र के स्थान पर सूर्य अथवा रवि को रखा जायेगा।

हम सभी यह जानते हैं कि एक अहोरात्र या दिवस में २४ होरा या घण्टे होते हैं। व्रह्मा जी ने इन २४ होरा या घण्टों में से प्रत्येक होरा का स्वामी क्रमश: सूर्य, शुक्र, बुध, चन्द्र, शनि, गुरु और मंगल को घोषित करते हुए स्पष्ट किया कि सृष्टि की कालगणना के प्रथम दिवस पर अन्धकार को विदीर्ण कर भगवान् भुवन भास्कर की प्रथम होरा से क्रमश: शुक्र की दूसरी, बुध की तीसरी, चन्द्रमा की चौथी, शनि की नौवीं, गुरु की छठी तथा मंगल की सातवीं होरा होगी। इस क्रम से इक्कीसवीं होरा पुन: मंगल की हुई। तदुपरान्त सूर्य की बाईसवीं, शुक्र की तेईसवीं और बुध की चौबीसवीं होरा के साथ एक अहोरात्र या दिवस पूर्ण हो गया। इसके बाद अगले दिन सूर्योदय के समय चन्द्रमा की होरा होने से दूसरे दिन का नामकरण सोमवार किया गया। अब इसी क्रम से चन्द्र की पहली, आठवीं और पंद्रहवीं, शनि की दूसरी, नववीं और सोलहवीं, गुरु की तीसरी, दशवीं और उन्नीसवीं, मंगल की चौथी, ग्यारहवीं और अठ्ठारहवीं, सूर्य की पाचवीं, बारहवीं और उन्नीसवीं, शुक्र की छठी, तेरहवीं और बीसवीं, बुध की सातवीं, चौदहवीं और इक्कीसवीं होरा होगी। बाईसवीं होरा पुन: चन्द्र, तेईसवीं शनि और चौबीसवीं होरा गुरु की होगी। अब तीसरे दिन सूर्योदय के समय पहली होरा मंगल की होने से सोमवार के बाद मंगलवार होना सुनिश्चित हुआ। इसी क्रम से सातों दिवसों की गणना करने पर वे क्रमश: बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार तथा शनिवार घोषित किये गये; क्योंकि मंगल से गणना करने पर बारहवीं होरा गुरु पर समाप्त होकर बाईसवीं होरा मंगल, तेईसवीं होरा रवि और चौबीसवीं होरा शुक्र की हुई। अब चौथे दिवस की पहली होरा बुध की होने से मंगलवार के बाद का दिन बुधवार कहा गया। अब बुधवार की पहली होरा से इक्कीसवीं होरा शुक्र की होकर बाईसवीं, तेईसवीं और चौबीसवीं होरा क्रमश: बुध, चन्द्र और शनि की होगी। तदुपरान्त पांचवें दिवस की पहली, होरा गुरु की होने से पांचवां दिवस गुरुवार हुआ। पुन: छठा दिवस शुक्रवार होगा; क्योंकि गुरु की पहली, आठवीं, पन्द्रहवीं और बाईसवीं होरा के पश्चात् तेईसवीं होरा मंगल और चौबीसवीं होरा सूर्य की होगी। अब छठे दिवस की पहली होरा शुक्र की होगी। सप्ताह का अन्तिम दिवस शनिवार घोषित किया गया; क्योंकि शुक्र की पहली, आठवीं, पन्द्रहवीं और बाईसवीं होरा के उपरान्त बुध की तेईसवीं और चन्द्रमा की चौबीसवीं होरा पूर्ण होकर सातवें दिवस सूर्योदय के समय प्रथम होरा शनि की होगी।

संक्षेप में व्रह्मा जी प्रणीत इस कालगणना में नक्षत्रों, ऋतुओं, मासों, दिवसों आदि का निर्धारण पूरी तरह निसर्ग अथवा प्रकृति पर आधारित वैज्ञानिक रूप से किया गया है। दिवसों के नामकरण को प्राप्त विश्वव्यापी मान्यता इसी तथ्य का प्रतीक है।

खगोल विज्ञान-१ : न्यूटन से पहले भास्कराचार्य ने बताया था गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त

लेखक - सुरेश सोनी

खगोल विज्ञान को वेद का नेत्र कहा गया, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टियों में होने वाले व्यवहार का निर्धारण काल से होता है और काल का ज्ञान ग्रहीय गति से होता है। अत: प्राचीन काल से खगोल विज्ञान वेदांग का हिस्सा रहा है। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रथों में नक्षत्र, चान्द्रमास, सौरमास, मल मास, ऋतु परिवर्तन, उत्तरायन, दक्षिणायन, आकाशचक्र, सूर्य की महिमा, कल्प का माप आदि के संदर्भ में अनेक उद्धरण मिलते हैं। इस हेतु ऋषि प्रत्यक्ष अवलोकन करते थे। कहते हैं, ऋषि दीर्घतमस् सूर्य का अध्ययन करने में ही अंधे हुए, ऋषि गृत्स्मद ने चन्द्रमा के गर्भ पर होने वाले परिणामों के बारे में बताया। यजुर्वेद के 18 वें अध्याय के चालीसवें मंत्र में यह बताया गया है कि सूर्य किरणों के कारण चन्द्रमा प्रकाशमान है।

यंत्रों का उपयोग कर खगोल का निरीक्षण करने की पद्धति रही है। आर्यभट्ट के समय आज से 1500 से अधिक वर्ष पूर्व पाटलीपुत्र में वेधशाला (Observatory) थी, जिसका प्रयोग कर आर्यभट्ट ने कई निष्कर्ष निकाले।

भास्कराचार्य सिद्धान्त शिरोमणि ग्रंथ के यंत्राध्याय प्रकरण में कहते हैं, "काल" के सूक्ष्म खण्डों का ज्ञान यंत्रों के बिना संभव नहीं है। इसलिए अब मैं यंत्रों के बारे में कहता हूं। वे नाड़ीवलय यंत्र, यष्टि यंत्र, घटी यंत्र, चक्र यंत्र, शंकु यंत्र, चाप, तुर्य, फलक आदि का वर्णन करते हैं।

प्रत्यक्ष निरीक्षण एवं अचूक ग्रहीय व कालगणना का 6000 वर्ष से अधिक पुराना इतिहास :-

श्री धर्मपाल ने "Indian Science and Technology in the Eighteenth Century" नामक पुस्तक लिखी है। उसमें प्रख्यात खगोलज्ञ जॉन प्लेफेयर का एक लेख "Remarks on the Astronomy of the brahmins" (1790 से प्रकाशित) दिया है। यह लेख सिद्ध करता है कि 6000 से अधिक वर्ष पूर्व में भारत में खगोल का ज्ञान था और यहां की गणनाएं दुनिया में प्रयुक्त होती थीं। उनके लेख का सार यह है कि सन् 1667 में एम.लॉ. लाबेट, जो स्याम के दूतावास में थे, जब वापस आये तो अपने साथ एक पंचांग लाए। दो पंचांग मिशनरियों ने भारत से भेजे, जो एक दक्षिण भारत से था और एक वाराणसी से। एक और पंचांग एम.डी. लिस्ले ने भेजा, जो दक्षिण भारत के नरसापुर से था। वह पंचांग जब उस समय के फ्रेंच गणितज्ञों की समझ में न आया तो उन्होंने वह जॉन प्लेफेयर के पास भेज दिया, जो उस समय रॉयल एस्ट्रोनोमर थे। उन्होंने जब एक और विचित्र बात प्लेफेयर के ध्यान में आई कि स्याम के पंचांग में दी गई यामोत्तर रेखा-दी मेरिडियन (आकाश में उच्च काल्पनिक बिन्दु से निकलती रेखा) 180-15"। पश्चिम में है और स्याम इस पर स्थित नहीं है। आश्चर्य कि यह बनारस के मेरिडियन से मिलती है। इसका अर्थ है कि स्याम के पंचांग का मूल हिन्दुस्तान है।

दूसरी बात वह लिखता है, "एक आश्चर्य की बात यह है कि सभी पंचांग एक संवत् का उल्लेख करते हैं, जिसे वे कलियुग का प्रारंभ मानते हैं। और कलियुग के प्रारंभ के दिन जो नक्षत्रों की स्थिति थी, उसका वर्णन अपने पंचांग में करते हैं तथा वहीं से काल की गणना करते हैं। उस समय ग्रहों की क्या स्थिति थी, यह बताते हैं। तो यह बड़ी विचित्र बात लगती है। क्योंकि कलियुग का प्रारंभ यानि ईसा से 3000 वर्ष पुरानी बात।

(1) ब्राह्मणों ने गिनती की निर्दोष और अचूक पद्धति विकसित की होगी तथा ब्रह्मांड में दूर और पास के ग्रहों को आकर्षित करने के लिए कारणीभूत गुरुत्वाकर्षण के नियम से ब्राह्मण परिचित थे।

(2) ब्राह्मणों ने आकाश का निरीक्षण वैज्ञानिक ढंग से किया।

प्लेफेयर के निष्कर्ष

अंत में प्लेफेयर दो बातें कहते हैं-

(1) यह सिद्ध होता है कि भारत वर्ष में एस्ट्रोनॉमी ईसा से 3000 वर्ष पूर्व से थी तथा कलियुगारम्भ पर सूर्य और चन्द्र की वर्णित स्थिति वास्तविक निरीक्षण पर आधारित थी।

(2) एक तटस्थ विदेशी का यह विश्लेषण हमें आगे कुछ करने की प्रेरणा देता है।

श्री धर्मपाल ने अपनी इसी पुस्तक में लिखा है कि तत्कालीन बंगाल की ब्रि ाटिश सेना के सेनापति, जो बाद में ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य बने, सर रॉबर्ट बारकर ने 1777 में लिखे एक लेख Bramins observatory at Banaras (बनारस की वेधशाला) पर प्रकाश डाला है। सन् 1772 में उन्होंने वेधशाला का निरीक्षण किया था। उस समय इसकी हालत खराब थी क्योंकि लंबे समय से उसका कोई उपयोग नहीं हुआ था। इसके बाद भी उस वेधशाला में जो यंत्र व साधन बचे थे , उनका श्री बारकर ने बारीकी से अध्ययन किया। उनके निरीक्षण में एक महत्वपूर्ण बात यह ध्यान में आई कि ये साधन लगभग 400 वर्ष पूर्व तैयार किए गए थे।

प्राचीन खगोल विज्ञान की कुछ झलकियां

(1) प्रकाश की गति :- क्या हमारे पूर्वजों को प्रकाश की गति का ज्ञान था? उपर्युक्त प्रश्न एक बार गुजरात के राज्यपाल रहे श्री के.के.शाह ने मैसूर विश्वविद्यालय के भौतिकी के प्राध्यापक प्रो. एल. शिवय्या से पूछा। श्री शिवय्या संस्कृत और विज्ञान दोनों के जानकार थे। उन्होंने तुरंत उत्तर दिया, "हां जानते थे।" प्रमाण में उन्होंने बताया कि ऋग्वेद के प्रथम मंडल में दो ऋचाएं है-

मनो न योऽध्वन: सद्य एत्येक: सत्रा सूरो वस्व ईशे अर्थात् मन की तरह शीघ्रगामी जो सूर्य स्वर्गीय पथ पर अकेले जाते हैं। (1-71-9) ("तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिकृदसि सूर्य विश्वमाभासिरोचनम्" अर्थात् हे सूर्य, तुम तीव्रगामी एवं सर्वसुन्दर तथा

प्रकाश के दाता और जगत् को प्रकाशित करने वाले हो। (1.50.9)

योजनानां सहस्रे द्वे द्वेशते द्वे च योजने।
एकेन निमिषार्धेन क्रममाण नमोऽस्तुते।।

अर्थात् आधे निमेष में 2202 योजन का मार्गक्रमण करने वाले प्रकाश तुम्हें नमस्कार है।

इसमें 1 योजन- 9 मील 160 गज
अर्थात् 1 योजन- 9.11 मील
1 दिन रात में- 810000 अर्ध निषेष
अत: 1 सेकेंड में - 9.41 अर्ध निमेष

इस प्रकार 2202 x 9.11- 20060.22 मील प्रति अर्ध निमेष तथा 20060.22 x 9.41- 188766.67 मील प्रति सेकण्ड। आधुनिक विज्ञान को मान्य प्रकाश गति के यह अत्यधिक निकट है।

(2) गुरुत्वाकर्षण: "पिताजी, यह पृथ्वी, जिस पर हम निवास करते हैं, किस पर टिकी हुई है?" लीलावती ने शताब्दियों पूर्व यह प्रश्न अपने पिता भास्कराचार्य से पूछा था। इसके उत्तर में भास्कराचार्य ने कहा, "बाले लीलावती, कुछ लोग जो यह कहते हैं कि यह पृथ्वी शेषनाग, कछुआ या हाथी या अन्य किसी वस्तु पर आधारित है तो वे गलत कहते हैं। यदि यह मान भी लिया जाए कि यह किसी वस्तु पर टिकी हुई है तो भी प्रश्न बना रहता है कि वह वस्तु किस पर टिकी हुई है और इस प्रकार कारण का कारण और फिर उसका कारण... यह क्रम चलता रहा, तो न्याय शास्त्र में इसे अनवस्था दोष कहते हैं।

लीलावती ने कहा फिर भी यह प्रश्न बना रहता है पिताजी कि पृथ्वी किस चीज पर टिकी है?

तब भास्कराचार्य ने कहा,क्यों हम यह नहीं मान सकते कि पृथ्वी किसी भी वस्तु पर आधारित नहीं है।..... यदि हम यह कहें कि पृथ्वी अपने ही बल से टिकी है और इसे धारणात्मिका शक्ति कह दें तो क्या दोष है?

इस पर लीलावती ने पूछा यह कैसे संभव है।
तब भास्कराचार्य सिद्धान्त की बात कहते हैं कि वस्तुओं की शक्ति बड़ी विचित्र है।4

मरुच्लो भूरचला स्वभावतो यतो
विचित्रावतवस्तु शक्त्य:।।
सिद्धांत शिरोमणी गोलाध्याय-भुवनकोश (5)

आगे कहते हैं-

आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं

गुरुस्वाभिमुखं स्वशक्तत्या।

आकृष्यते तत्पततीव भाति

समेसमन्तात् क्व पतत्वियं खे।।

सिद्धांत शिरोमणी गोलाध्याय-भुवनकोश- (6)

अर्थात् पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है। पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति से भारी पदार्थों को अपनी ओर खींचती है और आकर्षण के कारण वह जमीन पर गिरते हैं। पर जब आकाश में समान ताकत चारों ओर से लगे, तो कोई कैसे गिरे? अर्थात् आकाश में ग्रह निरावलम्ब रहते हैं क्योंकि विविध ग्रहों की गुरुत्व शक्तियां संतुलन बनाए रखती हैं।

आजकल हम कहते हैं कि न्यूटन ने ही सर्वप्रथम गुरुत्वाकर्षण की खोज की, परन्तु उसके 550 वर्ष पूर्व भास्कराचार्य ने यह बता दिया था।

खगोल विज्ञान-२ : आर्यभट्ट ने खंगाला खगोल

लेखक - सुरेश सोनी

लीलावती अपने पिता से पूछती है कि पिताजी, मुझे तो पृथ्वी चारों ओर सपाट दिखाई देती है, फिर आप यह क्यों कहते हैं कि पृथ्वी गोल है।

तब भास्कराचार्य कहते हैं कि पुत्री, जो हम देखते हैं वह सदा वैसा ही सत्य नहीं होता। तुम एक बड़ा वृत्त खींचो, फिर उसकी परिधि के सौवें भाग को देखो, तुम्हें वह सीधी रेखा में दिखाई देगा। पर वास्तव में वह वैसी नहीं होता, वक्र होता है। इसी प्रकार विशाल पृथ्वी के गोले के छोटे भाग को हम देखते हैं, वह सपाट नजर आता है। वास्तव में पृथ्वी गोल है।

समो यत: स्यात्परिधे: शतांश:

पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान्।

नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कुत्स्ना

समेव तस्य प्रतिभात्यत: सा॥ १३ ॥
सिद्धांत शिरोमणी गोलाध्याय-भुवनकोश

पृथ्वी स्थिर नहीं है:-पश्चिम में १५वीं सदी में गैलीलियों के समय तक धारणा रही कि पृथ्वी स्थिर है तथा सूर्य उसका

चक्कर लगाता है, परन्तु आज से १५०० वर्ष पहले हुए आर्यभट्ट, भूमि अपने अक्ष पर घूमती है, इसका विवरण निम्न प्रकार से देते हैं-

अनुलोमगतिर्नौस्थ: पश्यत्यचलम्
विलोमंग यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत् सम
पश्चिमगानि लंकायाम्॥
आर्यभट्टीय गोलपाद-९

अर्थात् नाव में यात्रा करने वाला जिस प्रकार किनारे पर स्थिर रहने वाली चट्टान, पेड़ इत्यादि को विरुद्ध दिशा में भागते देखता है, उसी प्रकार अचल नक्षत्र लंका में सीधे पूर्व से पश्चिम की ओर सरकते देखे जा सकते हैं।

इसी प्रकार पृथुदक् स्वामी, जिन्होंने व्रह्मगुप्त के व्रह्मस्फुट सिद्धान्त पर भाष्य लिखा है, आर्यभट्ट की एक आर्या का उल्लेख किया है-

भ पंजर: स्थिरो भू रेवावृत्यावृत्य प्राति दैविसिकौ।
उदयास्तमयौ संपादयति नक्षत्रग्रहाणाम्॥

अर्थात् तारा मंडल स्थिर है और पृथ्वी अपनी दैनिक घूमने की गति से नक्षत्रों तथा ग्रहों का उदय और अस्त करती है।

अपने ग्रंथ आर्यभट्टीय में आर्यभट्ट ने दशगीतिका नामक प्रकरण में स्पष्ट लिखा-प्राणे नैतिकलांभू: अर्थात् एक प्राण समय में पृथ्वी एक कला घूमती है (एक दिन में २१६०० प्राण होते हैं)

सूर्योदय-सूर्यास्त-भूमि गोलाकार होने के कारण विविध नगरों में रेखांतर होने के कारण अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग समय पर सूर्योदय व सूर्यास्त होते हैं। इसे आर्यभट्ट ने ज्ञात कर लिया था, वे लिखते हैं-

उदयो यो लंकायां सोस्तमय:

सवितुरेव सिद्धपुरे।

मध्याह्नो यवकोट्यां रोमक

विषयेऽर्धरात्र: स्यात्॥

(आर्यभट्टीय गोलपाद-१३)

अर्थात् जब लंका में सूर्योदय होता है तब सिद्धपुर में सूर्यास्त हो जाता है। यवकोटि में मध्याह्न तथा रोमक प्रदेश में

अर्धरात्रि होती है।

चंद्र-सूर्यग्रहण- आर्यभट्ट ने कहा कि राहु केतु के कारण नहीं अपितु पृथ्वी व चंद्र की छाया के कारण ग्रहण होता है।

अर्थात् पृथ्वी की बड़ी छाया जब चन्द्रमा पर पड़ती है तो चन्द्र ग्रहण होता है। इसी प्रकार चन्द्र जब पृथ्वी और सूर्य के बीच आता है तो सूर्यग्रहण होता है।

विभिन्न ग्रहों की दूरी- आर्यभट्ट ने सूर्य से विविध ग्रहों की दूरी के बारे में बताया है। वह आजकल के माप से मिलता-जुलता है। आजकल पृथ्वी से सूर्य की दूरी (15 करोड़ किलोमीटर) है। इसे AU (Astronomical unit) कहा जाता है। इस अनुपात के आधार पर निम्न सूची बनती है।

ग्रह	आर्यभट्ट का मान	वर्तमान मान
बुध	०.३७५ एयू	०.३८७ एयू
शुक्र	०.७२५ एयू	०.७२३ एयू
मंगल	१.५३८ एयू	१.५२३ एयू
गुरु	५.१६ एयू	५.२० एयू
शनि	९.४१ एयू	९.५४ एयू

व्रह्माण्ड का विस्तार- व्रह्माण्ड की विशालता का भी हमारे पूर्वजों ने अनुभव किया था। आजकल व्रह्माण्ड की विशालता मापने हेतु प्रकाश वर्ष की इकाई का प्रयोग होता है। प्रकाश एक सेकेंड में ३ लाख किलोमीटर की गति से भागता है। इस गति से भागते हुए एक वर्ष में जितनी दूरी प्रकाश तय करेगा उसे प्रकाश वर्ष कहा जाता है। इस पैमाने से आधुनिक विज्ञान बताता है कि हमारी आकाश गंगा, जिसे Milki way कहा जाता है, की लम्बाई एक लाख प्रकाश वर्ष है तथा चौड़ाई दस हजार प्रकाश वर्ष है।

इस आकाश गंगा के ऊपर स्थित एण्ड्रोला नामक आकाश गंगा इस आकाश गंगा से २० लाख २० हजार प्रकाश वर्ष दूर है और व्रह्माण्ड में ऐसी करोड़ों आकाश गंगाएं हैं।

श्रीमद्भागवत में राजा परीक्षित महामुनि शुकदेव से पूछते हैं, व्रह्माण्ड का व्याप क्या है? इसकी व्याख्या में शुकदेव व्रह्माण्ड के विस्तार का उल्लेख करते हैं- 'हमारा जो व्रह्माण्ड है, उसे उससे दस गुने बड़े आवरण ने ढंका हुआ है। प्रत्येक ऊपर का आवरण दस गुना है और ऐसे सात आवरण मैं जानता हूं। इन सबके सहित यह समूचा व्रह्माण्ड जिसमें परमाणु के समान दिखाई देता है तथा जिसमें ऐसे करोड़ों व्रह्माण्ड हैं, वह समस्त कारणों का कारण है।' ये बात बुद्धि को कुछ अबोध्य-सी लगती है। पर हमारे यहां जिस एक शक्ति से सब कुछ उत्पन्न-संचालित माना गया, उस ईश्वर के अनेक नामों में एक नाम अनंत कोटि व्रह्माण्ड नायक बताया गया है। यह नाम जहां व्रह्मांडों की अनन्तता बताता है, वहीं इस विश्लेषण के

वैज्ञानिक होने की अनुभूति भी कराता है। इस प्रकार इस संक्षिप्त अवलोकन से हम कह सकते हैं कि काल गणना और खगोल विज्ञान की भारत में उज्ज्वल परम्परा रही है। पिछली सदियों में यह धारा कुछ अवरुद्ध सी हो गई थी। आज पुन: उसे आगे बढ़ाने की प्रेरणा पूर्वकाल के आचार्य आज की पीढ़ी को दे रहे हैं।

स्थापत्य शास्त्र-१ : नगर रचना के श्रेष्ठतम उदाहरण

लेखक - सुरेश सोनी

हमारे यहां स्थापत्य शास्त्र की परिधि काफी व्यापक रही है। इसमें नगर रचना, भवन, मन्दिर, मूर्तियां, चित्रकला- सब कुछ आता था। नगरों में सड़कें, जल-प्रदाय व्यवस्था, सार्वजनिक सुविधा हेतु स्नानघर, नालियां, भवन के आकार-प्रकार, उनकी दिशा, माप, भूमि के प्रकार, निर्माण में काम आने वाली वस्तुओं की प्रकृति आदि का विचार किया गया था और यह सब प्रकृति से सुसंगत हो, यह भी देखा जाता था। जल प्रदाय व्यवस्था में बांध, कुआं, बावड़ी, नहरें, नदी आदि का भी विचार होता था।

किसी भी प्रकार के निर्माण हेतु शिल्प शास्त्रों में विस्तार से विचार किया गया है। हजारों वर्ष पूर्व वे कितनी बारीकी से विचार करते थे, इसका भी ज्ञान होता है। शिल्प कार्य के लिए मिट्टी, एंटें, चूना, पत्थर, लकड़ी, धातु तथा रत्नों का उपयोग किया जाता था। इनका प्रयोग करते समय कहा जाता था कि इनमें से प्रत्येक वस्तु का ठीक से परीक्षण कर उनका निर्माण में आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए। परीक्षण हेतु वह माप कितने वैज्ञानिक थे, इसकी कल्पना हमें निम्न उद्धरण से आ सकती है-

महर्षि भृगु कहते हैं कि निर्माण उपयोगी प्रत्येक वस्तु का परीक्षण निम्न मापदंडों पर करना चाहिए।

वर्णलिंगवयोवस्था: परोक्ष्यं च बलाबलं।
यथायोग्यं, यथाशक्ति: संस्कारान्कारयेत् सुधी:॥
(भृगु संहिता)

अर्थात् वस्तु का वर्ण (रंग), लिंग (गुण, चिन्ह), आयु (रोपण काल से आज तक) अवस्था (काल खंड के परिणाम) तथा इन सबके कारण वस्तु की ताकत देखकर उस पर जो खिंचाव पड़ेगा, उसे देख-परखकर यथोचित रूप में सभी संस्कारों को करना चाहिए।

इनमें वर्ण का अर्थ रंग है। पर शिल्प शास्त्र में इसका उपयोग प्रकाश को परावृत करता है। अत: इसे उत्तम वर्ण कहा गया।

निर्माण के संदर्भ में अनेक प्राचीन ऋषियों के शास्त्र मिलते हैं, जैसे-

(१) विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र-इसमें विश्वकर्मा निर्माण के संदर्भ में प्रथम बात बताते हैं- 'पूर्व भूमिं परिक्ष्येत पश्चात् वास्तु प्रकल्पयेत्' अर्थात् पहले भूमि परीक्षण कर फिर वहां निर्माण करना चाहिए। इस शास्त्र में विश्वकर्मा आगे कहते हैं उस भूमि में निर्माण नहीं करना चाहिए जो बहुत पहाड़ी हो, जहां भूमि में बड़ी-बड़ी दरारें हों आदि।

(२) काश्यप शिल्प-इसमें कश्यप ऋषि कहते हैं नींव तब तक खोदनी चाहिए जब तक जल न दिखे, क्योंकि इसके बाद चट्टानें आती हैं।

(३) भृगु संहिता-इसमें भृगु कहते हैं कि जमीन खरीदने के पहले भूमि का पांच प्रकार अर्थात् रूप, रंग, रस, गन्ध और स्पर्श से परीक्षण करना चाहिए। वे इसकी विधि भी बताते हैं।

इसके अतिरिक्त भवन निर्माण में आधार के हिसाब से दीवारें, उनकी मोटाई, उसकी आन्तरिक व्यवस्था आदि का भी विस्तार से वर्णन मिलता है। इस ज्ञान के आधार पर हुए निर्माणों के अवशेष सदियां बीतने के बाद भी अपनी कहानी कहते हैं, जिसके कुछ निम्नानुसार हैं-

मोहनजोदड़ो (सिंध)-पुरातात्विक उत्खनन में प्राप्त ईसा से ३००० वर्ष पूर्व के नगर मोहनजोदड़ो की रचना देखकर आश्चर्य होता है। अत्यंत सुव्यवस्थित ढंग से बसा हुआ है यह नगर मानो उसके भवन तथा सड़कें - सब रेखागणितीय माप के साथ बनाए गए थे। इस नगर में मिली सड़कें एकदम सीधी थीं तथा पूर्व से पश्चिम व उत्तर से दक्षिण बनी हुई थीं। दूसरी आश्चर्य की बात यह कि ये एक-दूसरे से ९० अंश के कोण पर थीं।

भवन निर्माण अनुपात में था। एंटों के जोड़, दीवारों की ऊंचाइयां बराबर थीं। भोजनालय, स्नानघर रहने के कमरे आदि की उचित व्यवस्था थी। नगर में रिहायशी भवन, बगीचे, सार्वजनिक भवन के साथ ही बहुत बड़ा सार्वजनिक स्नानागार भी मिला था, जो ११.८२ मीटर लम्बा, ७.०१ मी. चौड़ा तथा २.४४ मीटर ऊंचा है, जिसमें पानी हेतु दो धाराएं थीं। दूसरी बात, दीवारों में एंटों पर ऐसा पदार्थ लगा था जिस पर पानी का असर न हो। इस नगर को देखकर ध्यान में आता है कि नगर को बसाने वाले निर्माण शास्त्र में बहुत पारंगत थे।

(२) द्वारका- इसी प्रकार डा. एस.आर.राव ने पुरातात्विक उत्खनन में द्वारका को खोजा और वहां जो पुरावशेष मिले वे बताते हैं कि द्वारका नगर भी सुव्यवस्थित बसा था। नगर के चारों ओर दीवार थी। भवन निर्माण जिन पत्थरों से होता था उनका समुद्री पानी में क्षरण नहीं होता था। दो मंजिले भवन, सड़कें तथा पानी की व्यवस्था वहां दृष्टिगोचर होती है। इस खुदाई में तांबा, पीतल व कुछ मिश्र धातुएं प्राप्त हुई हैं जिनमें जस्ता ३४ प्रतिशत तक मिश्रित है। निर्माण में आने वाले स्तंभ, खिड़कियों के पट आदि का माप व आकार पूर्ण गणितीय ढंग से था।

(३) लोथल बंदरगाह (सौराष्ट्र)-ईसा से २५०० वर्ष पूर्व लोथल का बंदरगाह बनाया गया, जहां छोटी नावें ही नहीं अपितु बड़े-बड़े जहाज भी रुका करते थे। यहां बंदरगाह होने के कारण एक बड़ा शहर भी बसा था। इसकी रचना लगभग मोहनजोदड़ो, हड़प्पा जैसी ही थी। सड़कें, भवन, बगीचे, सार्वजनिक उपयोग के भवन आदि थे। दूसरे, यहां श्मशान शहरी

बस्ती से दूर बनाया गया था।

लोथल बंदरगाह ३०० मीटर उत्तर-दक्षिण तथा ४०० मीटर पूर्व-पश्चिम था और बाढ़, तूफान रोकने हेतु १३ मीटर की दीवार एंट, मिट्टी आदि की बनी थी। यह बंदरगाह बाद के काल बने में फोनेशियन और रोमन बंदरगाहों से बहुत विकसित था।

(४) वाराणसी-क्लॉड वेटली ने भारतीय शिल्प के बारे में लिखा है कि भारत की महान शिल्प विरासत की उपेक्षा की गयी है। बहुत सारी आधुनिक इमारतें भव्यता के बाद भी भारत को आबोहवा, मानसूनी हवाओं, जलवृष्टि और लंबरूप सूर्य के प्रकाश के कारण प्रतिकूल हैं।

भारत के परम्परागत वास्तु शिल्प की आवश्यक बातें पत्थर की कुर्सी, मोटी दीवारें, खिड़कियों का फर्स की ओर झुकाव, जिससे हवा का आगम-निर्गम (सरकुलेशन) उन्मुक्त रहे, भीतरी आंगन, तलघर, टेरेसनुमा छप्पर का निर्माण प्रचलित रहे हैं। भारतीय वास्तु शिल्प में इन बातों का ध्यान समुदाय की सुविधाओं और वृद्धिशील स्वास्थ्य के मद्देनजर रखा गया। वाराणसी विश्व का पहला नियोजित नगर माना गया है। प्राचीन भारत में जलशक्ति अभियांत्रिकी के विद्वान प्रो. भीमचन्द्र चटर्जी भारत के जल अभियांत्रिकी विज्ञान के बारे में लिखते हैं कि अयोध्या की राज्य परम्परा की चार पीढ़ियां अनवरत हिमालय से गंगा को लाने के लिए समर्पित रहीं और महान भगीरथ गंगा अवतरण में सफल हुए। गंगा का प्रवाह बंगाल की खाड़ी की ओर प्रवर्तित किया गया। वाराणसी के सामने गंगा को घुमाव दिया गया। यहां यह उत्तरामुखी होती है और इसकी दो शाखाएं होती हैं- वरुणा और असी। इनका जल पोषण गंगा ने किया। ऐसे घनत्व के स्थान जहां बाढ़ में जलागम बढ़ने पर अति जलागार को दूर प्रवाहित किया जा सके। बाढ़ रोकने का ऐसा अप्रतिम उदाहरण दूसरा नहीं।

(५) नगर नियोजन की नौ आवश्यक बातें (नवागम नगरम् प्राहु:)

१. जलापूर्ति- पेयजल, जल-मल की शुद्धि।

२. मंडप-यात्रियों के लिए विश्रामालय, धर्मशालाएं, अतिथि गृह।

३. हाट-उपभोक्ता सामग्री क्रय-विक्रय स्थल।

४. दांडिक और पुलिस- अपराध अनुसंधान, दंड विधान की व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, अराजक तत्वों से सुरक्षा।

५. बगीचा उद्यान- बाग-बगीचा, आमोद-प्रमोद और शिक्षा संस्थाओं के लिए।

६. आबादी- आवासीय व्यवस्था, कार्यशालाएं, कल कारखाने।

७. श्मशान- अन्तेष्टि स्थल और अस्थि विसर्जन की व्यवस्था।

८. स्वास्थ्य- अस्पताल, स्वास्थ्य निदान केन्द्र।

९. मन्दिर- देवी-देवता स्थल, सभी मतावलंबियों की सुविधा, समागम स्थल, सार्वजनिक समारोह।

(६) प्राचीन भारत में नगर नियोजन का दुर्लभ उदाहरण- कांजीवरम् नगर नियोजन का अनुपम उदाहरण है। विश्व के नगर नियोजन विज्ञानी कांजीवरम् का नियोजन देखकर दांतों तले अंगुली दबा लेते हैं। प्राचीन भारत में दक्षिण के नगर नियोजन के विशिष्ट वैभव के विषय में सी.पी.वेंकटराम अय्यर ने १९१६ में लिखा है कि प्राचीन नगर कांजीवरम् परम्परागत श्रेष्ठ नगर नियोजन का एक दुर्लभ नमूना है। प्रोफेसर गेडेड ने इसे नगर नियोजन के भारत के चिन्तन और नागरिक सोच का उत्कर्ष कहा है और उसकी भूरि-भूरि सराहना की है। यहां अनुकूल आराम, कामकाजी दक्षता के अनुरूप नगर नियोजन ने प्रो.गेडेड की अत्यंत प्रभावित किया है। यह प्राचीन भारत में नगर नियोजन का ठोस सबूत है। प्रोफेसर गेडेड के विचार से नगर की योजना की यह उत्कृष्ट सोच है। नागरिक सोच की जितनी उत्कृष्ट कल्पना हो सकती है, शिल्पियों ने यहां उसे मूर्त रूप दिया है। उन्होंने मौलिक रूप से मन्दिरों के नगर को बहुत ही विलक्षण कल्पना से संवारा है। नगर को मंदिरों से मात्र आकार ही नहीं दिया गया है अपितु अनेक दृष्टियों से यह छोटी-छोटी बातों में समृद्ध है, जो आनंदित करता है। यहां समुदायों का अलग-अलग सपना साकार होता है। मानव की कल्पना तथा व्यवहार की गरिमा मूर्तरूप होती है। साथ ही व्यक्तिगत कलाकार को अपनी सुरुचिपूर्ण स्वायत्तता सुलभ है। अन्यत्र कहीं भी, यहां तक कि दुनिया के समृद्धतम नगरों में भी यह दुर्लभ है।

सेंट एम्ड्रयूज से ईडन, लिंकन से न्यूयार्क, आक्सफोर्ड से सेल्सबरी, एक्सेला चोपेले से कोलोग और फ्रीबर्ग रोबर से नाइम्स तक इसके विपरीत परिस्थितियां दृष्टिगोचर होती हैं। वहां नगर नियोजन के मामले में सम्यक् बोध का अभाव और गिरावट है। झुग्गी-झोपड़ियों की बसावट है। इस सब विकृति से भारतीय नगर नियोजन कल्पना का मुक्त होना भारत के वास्तुवैभव, शिल्प की श्रेष्ठता और नगर नियोजन की समृद्धि का प्रमाण है।

स्थापत्य शास्त्र-२ : अजंता, एलोरा, कोणार्क, खजुराहो - ये हैं भारतीय शिल्प की चमत्कारिक धरोहर

लेखक - सुरेश सोनी

२५००-३००० ई.पू. से लेकर १७वीं शताब्दी तक के देश के विविध हिस्सों में जल प्रदाय की व्यवस्था के आश्चर्यजनक नमूने मिलते हैं जिसमें बड़े तालाब, नहरें तथा अन्य स्थान से पानी का मार्ग परिवर्तित कर पानी लाने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

कौटिल्य आज से २५०० वर्ष पूर्व अपने अर्थशास्त्र में कहते हैं कि राजा जिस पवित्र भाव से मन्दिर का निर्माण करता है उसी भाव से उसे जल रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। आज पानी को लेकर चारों ओर हाहाकार है। लोग कहते हैं कि कहीं तीसरा विश्वयुद्ध पानी को लेकर न हो जाए। ऐसे समय में चाणक्य की बात ध्यान देने योग्य है। चाणक्य राजा को पवित्र भाव से जल रोकने का प्रयास करने की सलाह देकर ही नहीं रुके, अपितु आगे वे कहते हैं कि जनता को भी जल संरक्षण के लिए प्रेरित करना चाहिए। उस हेतु आर्थिक सहयोग देना चाहिए, आवश्यकता पड़ने पर वस्तु का सहयोग करना चाहिए, इतना ही नहीं तो व्यक्ति का भी सहयोग करना चाहिए।

कौटिल्य जल रोकने हेतु बांध बनाने का भी उल्लेख करते हैं तथा इसका भी वर्णन करते हैं कि बांध वहां नहीं बनाना चाहिए जहां दो राज्यों की सीमाएं मिलती हैं, क्योंकि ऐसा होने पर वह झगड़े की जड़ बनेगा। आज कावेरी तथा नर्मदा नदी के विवादों को देखकर लगता है वे बहुत दूरद्रष्टा थे।

दक्षिण में पेरुमामिल जलाशय अनंतराजा सागर ने बनवाया था। यह भारत में सिंचाई, शिल्प और प्रौद्योगिकी की कहानी कहता है। समीप के मंदिर की ओर दो पत्थर-शिलाओं पर बने शिलालेख (सन् १३६९) से पता लगता है कि जलागार के निर्माण में दो वर्ष लगे। एक हजार श्रमिक लगाए गए और एक सौ गाड़ियां पत्थर निर्माण स्थल तक पहुंचाने में प्रयुक्त हुएं। शिलालेख में इस जलागार (जलाशय) के निर्माण स्थल के चयन और निर्माण के संबंध में बारह विशेष बातों का उल्लेख हैं, जो एक अच्छे तालाब के निर्माण के लिए आवश्यक हैं।

(१) शासक में कुछ भलाई, समृद्धि, खुशहाली के माध्यम से यश पाने की अभिलाषा हो। (२) पायस शास्त्र यानी जल विज्ञान में निपुणता हो। (३) जलाशय का आधार सख्त मिट्टी पर आधारित हो। (४) नदी जल का भण्डार करीब ३८ किलोमीटर से ला रही हो। (५) बांध के दो तरफ किसी पहाड़ी के ऊंचे शिखर हों। (६) इन दो पहाड़ी टीलों के बीच बांध ठोस पत्थर का बने। भले ही लंबा न हो, लेकिन सख्त हो। (७) ये पहाड़ियां ऐसी जमीन से भिन्न हों जो उद्यानिकी के अनुकूल और उर्वर होती हैं। (८) जलाशय का वेड (तल) लंबा, चौड़ा और गहरा हो। (९) सीधे, लम्बे पत्थरों वाली जमीन हो। (१०) समीप में निचली, उर्वर जमीन सिंचाई के लिए उपलब्ध हो। (१२) जलाशय बनाने में कुशल शिल्पी लगाए जाएं।

छह वर्जनाएं भी शिलालेख में उत्कीर्ण हैं, इन्हें हर हाल में टाला जाना चाहिए-

(१) बांध से रिसाव। (२) क्षारीय भूमि। (३) दो अलग शासित क्षेत्रों की सीमा में जलाशय का निर्माण। (४) जलाशय बांध के बीच में ऊंचाई वाला क्षेत्र। (५) कम जलापूर्ति आगम और सिंचाई के लिए अधिक फैला क्षेत्र। (६) सिंचाई के लिए अपर्याप्त भूमि और अधिक जलागम।

इसके अतिरिक्त ग्यारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी में जल संरक्षण की संरचना के लिए जलाशयों के निर्माण को रोचक इतिहास देश में दर्ज है।

(१) अरिकेशरी मंगलम् जलाशय (१०१०-११) के साथ मन्दिर की संरचना। (२) गंगा हकोदा चोपुरम् जलाशय (१०१२-१०१४) के बांध, स्तूप और नहरों का विस्तार १६ मील लम्बा है। (३) भोजपुर झील (११वीं सदी) भोपाल से लगी हुई २४० वर्गमील में फैली है। इसका निर्माण राजा भोज ने किया था। इस झील में ३६५ जल धाराएं मिलती हैं। (४) अलमंदा जलाशय (ग्यारहवीं) विशाखापट्टनम् में है। (५) राजत टाका तालाब (ग्यारहवीं शताब्दी) (६) भावदेव भट्ट जलाशय बंगाल में (७) सिंधुघाटी जलाशय (११०६-०७) मैसूर में स्लूस तक निर्माण किया गया है। (८) पेरिया क्याक्कल स्लूस (१२१९) त्रिचलापल्ली जिले में। (९) पखाला झील (१३वीं शताब्दी)। वारंगल जिले में हल संरचना का उदाहरण है। (१०) फिरंगीपुरम् जलाशय (१४०९) गुंटूर जिले में शिल्प की विशिष्टता है। (११) हरिद्रा जलाशय (१४१०) व्राह्मणों ने अपने खर्चे से निर्मित कराया था। तब विजयनगर में राजा देवराज सत्तासीन थे। (१२) अनंतपुर जिले में नरसिंह वोधी जलाशय (१४८९) का उल्लेख भी आवश्यक है। (१३) १५२० में नागलपुर जलाशय-राजा कृष्णराज ने नागलपुर की पेयजल पूर्ति के लिए बनवाया था। कृष्णराज को भूजल सुरंग बनाने का पहला गौरव प्राप्त हुआ। विजयपुर, महमदनगर, औरंगाबाद, कोरागजा, वासगन्ना चैनलों का निर्माण इसी श्रृंखला की कड़ी है। (१४) शिवसमुद्र (१५३१-३२) आज भी बंगलुरू की जलपूर्ति का स्रोत है। (१५) तुगलकाबाद में बांध के जनक अनंगपाल (११५१) थे (१६) सतपुला बांध दिल्ली (१३२६) में ३८ फुट ऊंची महराबें है। (१६) जमुना की पुरानी नहर, जिसे फिरोजशाह तुगलक नहर (१३वीं शताब्दी) कहा गया, रावी पर बनी है।

कलात्मक स्थापत्य के अमर उदाहरण-

प्राचीन मंदिर

प्राचीनकाल में शिल्पियों के समूह होते थे, जो एक कुल की तरह रहते थे और कोई राजकुल या धनिक व्यक्ति भक्ति भावना से भव्य मन्दिर निर्माण कराना चाहता तो ये वहां जाकर वर्षों अंत:करण की भक्ति से, पूजा के भाव से, व्यवसायी बुद्धि से रहित होकर, मूर्ति उकेरने की साधना में संलग्न रहते थे। उनकी मूक साधना प्रस्तर में प्राण फूंकती थी। इसी कारण आज भी प्राचीन मंदिरों की मूर्तिकला मानो जीवंत हो अपनी कहानी कहती है। कोणार्क के सूर्य मन्दिर का निर्माण लगातार १२ वर्ष तक अनेक शिल्पियों की साधना का परिणाम है।

इस श्रेष्ठ भारतीय कला के अनेक नमूने देश के विभिन्न स्थानों पर दिखाई देते हैं।

एलोरा के मन्दिर जिनमें व्राह्मण मंदिर कैलास सबसे विशाल और सुन्दर है, इसके सभी भाग निर्दोष और कलापूर्ण हैं। इसकी लंबाई १४२ फुट, चौड़ाई ६२ फुट तथा ऊंचाई १०० फुट है। इस पर पौराणिक दृश्य उत्कीर्ण हैं।

एलीफेंटा की गुफा में शिव-पार्वती के विवाद वाले दृश्यों में मानो शिल्पी की सारी साधना मुखर हुई है।

उड़ीसा का लिंगराज मंदिर कला का श्रेष्ठतम नमूना है। यह मन्दिर ५२०न्४६५ वर्गफुट में स्थित है, मंदिर की ऊंचाई १४४.०५ फुट है तथा ७.५ फुट भारी दीवार से घिरा है। इसके चार प्रमुख भाग हैं:- विमान-जगमोहन-नट मन्दिर-भाग मंडप। मंदिर में अनेक देवताओं की सुंदर उकेरी गई मूर्तियों के साथ-साथ रामायण और महाभारत के अनेक प्रसंगों को

उकेरा गया है।

खजुराहो के मन्दिर-यह नवीं शताब्दी के मंदिर हैं। पहले ८५ मंदिर थे, अब लगभग २० ही शेष रह गए हैं। खजुराहो के मन्दिर शिल्पकला के महान् प्रतीक हैं। बाह्य दीवारों पर भोग मुद्रायें हैं। गर्भगृह में शिवलिंग स्थापित है।

इसके अतिरिक्त गुजरात में गिरनार के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। दक्षिण भारत में श्रीरंगपट्टन का मंदिर सबसे बड़ा और स्थापत्य का उत्कृष्ट नमूना है। यहां पर एक सहस्र स्तंभों वाला (१६न्७०) मण्डप है, जिसका कमरा ४५०न्१३० फुट है। यहां गोकुल जैसा बड़ा और कलात्मक गोपुर और कहीं-कहीं कुण्डलाकार बेलें, पुष्पाकृतियों आदि अनोखी छटा उत्पन्न करते हैं।

११वीं शताब्दी का रामेश्वरम् मंदिर चार धामों में से एक धाम है। मदुरई का मीनाक्षी मन्दिर कला का अप्रतिम नमूना है। इसकी लम्बाई ८४७ फुट, चौड़ाई ७९५ फुट ऊंचाई १६० फुट है। इसके परकोटे में ११ गोपुर हैं। एक सहस्र स्तंभों वाला मंडप यहां भी है और इसकी विशेषता है कि प्रत्येक स्तंभ की कारीगीरी, मूर्तियां व मुद्राएं भिन्न-भिन्न है। दक्षिण भारत में कला का यह सर्वश्रेष्ठ नमूना है।

इस प्रकार पूरे भारत में सहस्रों मंदिर, महल, प्रासाद प्राचीन शिल्पज्ञान की गाथा कह रहे हैं।

शिल्प के कुछ अद्भुत नमूने- (१) अजंता की गुफा में एक बुद्ध प्रतिमा है। इस प्रतिमा को यदि अपने बायीं ओर से देखें तो भगवान बुद्ध गंभीर मुद्रा में दृष्टिगोचर होते हैं, सामने से देखें तो गहरे ध्यान में लीन शांत दिखाई देते हैं और दायीं ओर देखें तो उनके मुखमंडल पर हास्य अभिव्यक्त होता है। एक ही मूर्ति के भाव कोण बदलने के साथ बदल जाते हैं।

(२) दक्षिण में विजयनगर साम्राज्य में बना विट्ठल मंदिर शिल्पकला का अप्रतिम नमूना है। इसका संगीत खण्ड यह बताता है कि पत्थर, उनके प्रकार, विशेषता और किस पत्थर को कैसे तराशने से और किस कोण पर स्थापित करने पर उसमें से विशेष ध्वनि निकलेगी। इस खण्ड के विभिन्न स्तंभों से संपूर्ण संगीत व वाद्यों का अनुभव होता है। इसमें प्रवेश करते ही सर्वप्रथम सात स्तंभ हैं। इसमें प्रथम स्तंभ पर कान लगाएं और उस पर आघात दें। तो स की ध्वनि निकलती है और सात स्वरों के क्रम से आगे के स्तम्भों में से रे,ग,म,प,ध,नी की ध्वनि निकलती है। आगे अलग-अलग स्तंभों से अलग-अलग वाद्यों की ध्वनि निकलती है। किसी स्तम्भ से तबले की, किसी स्तंभ से बांसुरी की, किसी से वीणा की। जिन्होंने यह बनाया, उन्होंने पत्थरों में से संगीत प्रकट कर दिया। आज भी उन अनाम शिल्पियों की ये अमर कृतियां भारतीय शिल्प शास्त्र की गौरव गाथा कहती हैं।

चित्रकला

महाराष्ट्र में औरंगाबाद के पास स्थित अजंता की प्रसिद्ध गुफाओं के चित्रों की चमक हजार से अधिक वर्ष बीतने के बाद भी आधुनिक समय से विद्वानों के लिए आश्चर्य का विषय है। भगवान बुद्ध से संबंधित घटनाओं को इन चित्रों में अभिव्यक्त किया गया है। चावल के मांड, गोंद और अन्य कुछ पत्तियों तथा वस्तुओं का सम्मिश्रमण कर आविष्कृत किए

गए रंगों से ये चित्र बनाए गए। लगभग हजार साल तक भूमि में दबे रहे और १८१९ में पुन: उत्खनन कर इन्हें प्रकाश में लाया गया। हजार वर्ष बीतने पर भी इनका रंग हल्का नहीं हुआ, खराब नहीं हुआ, चमक यथावत बनी रही। कहीं कुछ सुधारने या आधुनिक रंग लगाने का प्रयत्न हुआ तो वह असफल ही हुआ। रंगों और रेखाओं की यह तकनीक आज भी गौरवशाली अतीत का याद दिलाती है।

ब्रिटिश संशोधक मि। ग्रिफिथ कहते हैं 'अजंता में जिन चितेरों ने चित्रकारी की है, वे सृजन के शिखर पुरुथ थे। अजंता में दीवारों पर जो लंबरूप (खड़ी) लाइनें कूची से सहज ही खींची गयी हैं वे अचंभित करती हैं। वास्तव में यह आश्चर्यजनक कृतित्व है। परन्तु जब छत की सतह पर संवारी क्षितिज के समानान्तर लकीरें, उनमें संगत घुमाव, मेहराब की शक्ल में एकरूपता के दर्शन होते हैं और इसके सृजन की हजारों जटिलताओं पर ध्यान जाता है, तब लगता है वास्तव में यह विस्मयकारी आश्चर्य और कोई चमत्कार है।'

वृक्ष आयुर्वेद से मिला ज्ञान

लेखक - सुरेश सोनी

वैदिक काल से ही भारत वर्ष में प्रकृति के निरीक्षण, परीक्षण एवं विश्लेषण की प्रवृत्ति रही है। इसी प्रक्रिया में वनस्पति जगत का भी विश्लेषण किया गया। प्राचीन वांगमय में इसके अनेक संदर्भ ज्ञात होते हैं। अथर्ववेद में पौधों को आकृति तथा अन्य लक्षणों के आधार पर सात उपविभागों में बांटा गया, यथा- (१) वृक्ष (२) तृण (३) औषधि (४) गुल्म (५) लता (६) अवतान (७) वनस्पति।

आगे चलकर महाभारत, विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण, शुक्रनीति, वृहत् संहिता, पाराशर, चरक, सुश्रुत, उदयन आदि द्वारा वनस्पति, उसकी उत्पत्ति, उसके अंग, क्रिया, उनके विभिन्न प्रकार, उपयोग आदि का विस्तार से वर्णन किया गया, जिसके कुछ उदाहरण हम निम्न संदर्भों में देख सकते हैं।

पौधों में जीवन

पौधे जड़ नहीं होते अपितु उनमें जीवन होता है। वे चेतन जीव की तरह सर्दी-गर्मी के प्रति संवेदनशील रहते हैं, उन्हें भी हर्ष और शोक होता है। वे मूल से पानी पीते हैं, उन्हें भी रोग होता है इत्यादि तथ्य हजारों वर्षों से हमारे यहां ज्ञात थे तथा अनेक ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है।

महाभारत के शांतिपर्व के १८४वें अध्याय में महर्षि भारद्वाज व भृगु का संवाद है। उसमें महर्षि भारद्वाज पूछते हैं कि वृक्ष चूंकि न देखते हैं, न सुनते हैं, न गन्ध व रस का अनुभव करते हैं, न ही उन्हें स्पर्श का ज्ञान होता है, फिर वे पंच भौतिक व चेतन कैसे हैं? इसका उत्तर देते हुए महर्षि भृगु कहते हैं- हे मुने, यद्यपि वृक्ष ठोस जान पड़ते हैं तो भी उनमें आकाश है, इसमें संशय नहीं है, इसी से इनमें नित्य प्रति फल-फूल आदि की उत्पत्ति संभव है।

वृक्षों में जो ऊष्मा या गर्मी है, उसी से उनके पत्ते, छाल, फल, फूल कुम्हलाते हैं, मुरझाकर झड़ जाते हैं। इससे उनमें स्पर्श ज्ञान का होना भी सिद्ध है।

यह भी देखा जाता है कि वायु, अग्नि, बिजली की कड़क आदि होने पर वृक्षों के फल-फूल झड़कर गिर जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे सुनते भी हैं।

लता वृक्ष को चारों ओर से लपेट लेती है और उसके ऊपरी भाग तक चढ़ जाती है। बिना देखे किसी को अपना मार्ग नहीं मिल सकता। अत: इससे सिद्ध है कि वृक्ष देखते भी हैं।

पवित्र और अपवित्र गन्ध से तथा नाना प्रकार के धूपों की गंध से वृक्ष निरोग होकर फूलने लगते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वृक्ष सूंघते हैं।

वृक्ष अपनी जड़ से जल पीते हैं और कोई रोग होने पर जड़ में औषधि डालकर उनकी चिकित्सा भी की जाती है। इससे सिद्ध होता है कि वृक्ष में रसनेन्द्रिय भी हैं।

जैसे मनुष्य कमल की नाल मुंह में लगाकर उसके द्वारा ऊपर को जल खींचता है, उसी प्रकार वायु की सहायता से वृक्ष जड़ों द्वारा ऊपर की ओर पानी खींचते हैं।

सुखदु:खयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात्।
जीवं पश्यामि वृक्षाणां चैतन्यं न विद्यते॥

वृक्ष कट जाने पर उनमें नया अंकुर उत्पन्न हो जाता है और वे सुख, दु:ख को ग्रहण करते हैं। इससे मैं देखता हूं कि कि वृक्षों में भी जीवन है। वे अचेतन नहीं हैं।

वृक्ष अपनी जड़ से जो जल खींचता है, उसे उसके अंदर रहने वाली वायु और अग्नि पचाती है। आहार का परिपाक होने से वृक्ष में स्निग्धता आती है और वे बढ़ते हैं।

इसके अतिरिक्त महर्षि चरक तथा उदयन आचार्य ने भी वृक्षों में चेतना तथा चेतन होने वाली अनुभूतियों के संदर्भ में वर्णन किया है।

महर्षि चरक कहते हैं- 'तच्येतनावद् चेतनञ्च'
अर्थात्-प्राणियों की भांति उनमें (वृक्षों में) भी चेतना होती है।
आगे कहते हैं 'अत्र सेंद्रियत्वेन वृक्षादीनामपि चेतनत्वम् बोद्धव्यम्'

अर्थात्-वृक्षों की भी इन्द्रिय है, अत: इनमें चेतना है। इसको जानना चाहिए। उसी प्रकार उदयन कहते हैं-

‘वृक्षादय: प्रतिनियतभोक्त्रयधिष्ठिता: जीवनमरणस्वप्नजागरणरोगभेषज प्रयोगबीजजातीयानुबन्धनुकूलोपगम प्रतिकूलापगमादिभ्य: प्रसिद्ध शरीरवत्।’
(उदयन-पृथ्वीनिरुपणम्।)

अर्थात्-वृक्षों की भी मानव शरीर के समान निम्न अनुभव निश्चित होते हैं- जीवन, मरण, स्वप्न, जागरण, रोग, औषधि प्रयोग, बीज, सजातीय अनुबन्ध, अनुकूल वस्तु स्वीकार व प्रतिकूल वस्तु का अस्वीकार।

एक अद्भुत ग्रंथ-पाराशर वृक्ष आयुर्वेद

बंगाल के प्रसिद्ध वनस्पति शास्त्री डा. गिरिजा प्रसन्न मजूमदार ने ‘हिस्ट्री ऑफ साइंस इन इंडिया‘ में वनस्पति शास्त्र से संबंधित अध्याय में महामुनि पाराशर द्वारा रचित ग्रंथ ‘वृक्ष आयुर्वेद‘ का वर्णन किया है। बंगाल के एन.एन. सरकार के पिता, जो आयुर्वेद के प्रसिद्ध विद्वान थे, ने इसकी पांडुलिपि खोजी थी। मजूमदार महोदय ने जब इस प्राचीन ग्रंथ को पढ़ा तो वे आश्चर्यचकित हो गए, क्योंकि उसमें बीज से वृक्ष बनने तक का इतना वैज्ञानिक विश्लेषण था कि वह किसी भी पाठक को अभिभूत करता था। उन्होंने इस ग्रंथ का सार अंग्रेजी में अनूदित किया। यह ग्रंथ हजारों वर्ष पूर्व की भारतीय प्रज्ञा की गौरवमयी गाथा कहता है। इसका विश्लेषण जबलपुर में १९९२ में स्वदेशी प्राण विज्ञान पर संपन्न राष्ट्रीय संगोष्ठी में पूर्व केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री डा. मुरली मनोहर जोशी ने किया। वे कहते हैं ‘मैं एक पुस्तक का उल्लेख करना चाहता हूं, वह है वृक्ष आयुर्वेद। उसके लेखक थे महामुनि पाराशर। इस ग्रंथ में जो वैज्ञानिक विवेचन है, वह विस्मयकारी है। इस पुस्तक के ६ भाग हैं- (१) बीजोत्पत्ति काण्ड (२) वानस्पत्य काण्ड (३) गुल्म काण्ड (४)वनस्पति काण्ड (५) विरुध वल्ली काण्ड (६) चिकित्सा काण्ड।

इस ग्रंथ के प्रथम भाग बीजोत्पत्ति काण्ड में आठ अध्याय हैं जिनमें बीज के वृक्ष बनने तक की गाथा का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया गया है। इसका प्रथम अध्याय है बीजोत्पत्ति सूत्राध्याय, इसमें महर्षि पाराशर कहते हैं-

आपोहि कललं भुत्वा यत् पिण्डस्थानुकं भवेत्।
तदेवं व्यूहमानत्वात् बीजत्वमधि गच्छति॥

पहले पानी जेली जैसे पदार्थ को ग्रहण कर न्यूक्लियस बनता है और फिर वह धीरे-धीरे पृथ्वी से ऊर्जा और पोषक तत्व ग्रहण करता है। फिर उसका आदि बीज के रूप में विकास होता है और आगे चलकर कठोर बनकर वृक्ष का रूप धारण करता है। आदि बीज यानी प्रोटोप्लाज्म के बनने की प्रक्रिया है जिसकी अभिव्यक्ति बीजत्व अधिकरण में की गई है।

दूसरे अध्याय भूमि वर्गाध्याय में पृथ्वी का उल्लेख है। इसमें मिट्टी के प्रकार, गुण आदि का विस्तृत वर्णन है।

तीसरा अध्याय वन वर्गाध्याय का है। इसमें १४ प्रकार के वनों का उल्लेख है। चौथा अध्याय वृक्षांग सूत्राध्याय (फिजियॉलाजी) का है। इसमें प्रकाश संश्लेषण यानी फोटो सिंथेसिस की क्रिया के लिए कहा है-

‘पत्राणि तु वातातपरञ्जकानि अभिगृहन्ति।’

वात-क्दृ२ आतप च्द्वदथ्त्ढ़ण्द्य, रंजक क्लोरोफिल। यह स्पष्ट है कि वात कार्बन डाय आक्साइड अ सूर्य प्रकाश अ क्लोरोफिल से अपना भोजन वृक्ष बनाते हैं। इसका स्पष्ट वर्णन इस ग्रंथ में है।

पांचवा पुष्पांग सूत्राध्याय है। इसमें कितने प्रकार के फूल होते हैं, उनके कितने भाग होते हैं, उनका उस आधार पर वर्गीकरण किया गया है। उनमें पराग कहां होता है, पुष्पों के हिस्से क्या हैं आदि का उल्लेख है।

फलांग सूत्राध्याय में फलों के प्रकार, फलों के गुण और रोग का वर्गीकरण किया गया है। सातवें वृक्षांग सूत्राध्याय में वृक्ष के अंगों का वर्णन करते हुए पाराशर कहते है- पत्रं (पत्ते) पुष्प (फूल) मूलं (जड़) त्वक् (शिराओं सहित त्वचा) काण्डम् (स्टिम्) सारं (कठोर तना) सारसं (च्ठ्ठद्र) र्नियासा (कन्ड़द्धद्धद्धद्यत्दृदद्म) बीजं (बीज) प्ररोहम् (च्ण्दृदृद्यद्म)-इन सभी अंगों का परस्पर सम्बन्ध होता है। आठवें अध्याय में बीज से पेड़ के विकास का वर्णन किया गया है। बीज के बारे में जो कहा गया है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। बीज और पत्रों की प्रक्रिया में वे कितनी गहराई में गए, यह तय करना आज के वनस्पति शास्त्र के विद्वानों का दायित्व है। पाराशर कहते हैं-

‘बीज मातृका तु बीजस्यम् बीज पत्रन्तुबीजमातृकायामध्यस्थमादि’
पत्रञ्च मातृकाछदस्तु तनुपत्रकवत् मातृकाछादनञ्च कञ्चुकमित्याचक्षते॥

बीजन्तु प्रकृत्या द्विविधं भवति एकमातृकं द्विमातृकञ्च। तत्रैकपत्रप्ररोहानां वृक्षाणां बीजमेकमातृकं भवति। द्वि पत्र प्ररोहानान्तु द्विमातृकञ्च।

यानी मोनोकॉटिलिडेन और डायकॉटिलिडेन। यानी एकबीजपत्री और द्विबीजपत्री बीजों का वर्णन है। किस प्रकार बीज धीरे-धीरे रस ग्रहण करके बढ़ते हैं और वृक्ष का रूपधारण करते हैं। कौन- सा बीज कैसे उगता है, इसका वर्गीकरण के साथ उसमें स्पष्ट वर्णन है।

यह भी वर्णन है कि बीज के विभिन्न अंगों के कार्य अंकुरण (जर्मिनेशन) के समय कैसे होते हैं-

अंकुरनिर्विते बीजमात्रकाया रस:
संप्लवते प्ररोहांगेषु।

यदा प्ररोह: स्वातन्त्रेन भूम्या: पार्थिवरसं गृहणाति तदा बीज मातृका प्रशोषमा पद्यमे। (वृक्ष आयुर्वेद-द्विगणीयाध्याय)

वृक्ष के विकास की गाथा

वृक्ष रस ग्रहण करता है, बढ़ता है। आगे कहा गया है कि जड़ बन जाने के बाद बीज मात्रिका यानी बीज पत्रों की आवश्यकता नहीं रहती, वह समाप्त हो जाती है। फिर पत्तों और फलों की संरचना के बारे में कहा है कि वृक्ष का भोजन पत्तों से बनता है। पार्थिव रस जड़ में से स्यंदिनी नामक वाहिकाओं के द्वारा ऊपर आता है, यह मानो आज के ‘एसेण्ट

ऑफ सैप' का वर्णन है। यह रस पत्तों में पहुंच जाता है। जहां पतली-पतली शिराएं जाल की तरह फैली रहती हैं। ये शिरायें दो प्रकार की हैं- 'उपसर्प' और 'अपसर्प'। वे रस प्रवाह को ऊपर भी ले जाती हैं और नीचे भी ले जाती हैं। दोनों रास्ते अलग-अलग हैं। गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध भी वे रस ऊपर कैसे ले जाती हैं इसके बारे में आज के विज्ञान में पूरा ज्ञान नहीं है। जब तक कैपिलरी एक्शन का ज्ञान न हो तब तक यह बताना संभव नहीं है और यह ज्ञान बहुत समय तक पश्चिमी देशों को नहीं था। कैपिलरी मोशन संबंधी भौतिकी के सिद्धांत का ज्ञान बॉटनी के ज्ञान के साथ आवश्यक है। जब पत्तों में रस प्रवाहित होता है, तब क्या होता है इसे स्पष्ट करके ग्रंथ में कहा गया है-

'रंजकेन पश्च्यमानात' किसी रंग देने वाली प्रक्रिया से यह पचता है-यानी फोटो सिंथेसिस। यह बड़ा महत्वपूर्ण है। इसके पश्चात् वह कहते हैं कि 'उत्पादं- विसर्जयन्ति' हम सब आज जानते हैं कि पत्तियां फोटो सिंथेसिस से दिन में आक्सीजन निकालती हैं और रात में कार्बन डाय अक्साइड। दिन में कार्बन डाय आक्साइड लेकर भोजन बनाती हैं। अतिरिक्त वाष्प का विसर्जन करती हैं, जिसे ट्रांसपिरेशन कहते हैं। इस सबका वर्णन इसमें है।

आगे कहा कि जब उसमें से वाष्प का विसर्जन होता है तब उसमें ऊर्जा उत्पन्न होती है, यानी श्वसन की क्रिया का वर्णन है। संक्षेप में यह वर्णन बताता है कि किस प्रकार रस का ऊपर चढ़ना, पंक्तियों में जाना, भोजन बनाना, फिर श्वसन द्वारा ऊर्जा उत्पन्न करना होता है। इस सारी क्रमिक क्रिया से पेड़ बनता है। इसके अतिरिक्त आज भी कोई दूसरी प्रक्रिया वृक्षों के बढ़ने की ज्ञात नहीं है।

वनस्पति विज्ञान-२ : भारत ने ही बताया- पौधों में जीवन है

लेखक - सुरेश सोनी

सन् १६६५ में राबर्ट हुक ने माइक्रोस्कोप के द्वारा जो वर्णन किया उससे विस्तृत वर्णन महर्षि पाराशर हजारों वर्ष पूर्व करते हैं। वे कहते हैं, कोष की रचना निम्न प्रकार है-

(१) कलावेष्टन (ग्द्रद्यड्ढद्ध ध्ठ्ठथ्थ्)

(२)रंजकयुक्त रसाश्रय (क्रठ्ठद्र ध्त्द्र्यण् ठ्ठ ड़दृथ्दृद्रद्धत्दढ़ थ्ठ्ठद्यद्यड्ढद्ध)

(३) सूक्ष्मपत्रक (क्ष्ददड्ढद्ध ध्ठ्ठथ्थ्)

(४) अण्वश्च (ग़दृद्य ध्त्ध्मत्डथ्ड्ढ द्यदृ द्यण्ड्ढ दठ्ठत्ड्ढड्ड ड्ढन्ड्ढ)

अब यह सेल का वर्णन तो बिना माइक्रोस्कोप के संभव नहीं है। यानी वृक्ष आयुर्वेद के लेखक को हजारों साल पहले

माईक्रोस्कोप का ज्ञान रहा होगा। तब पश्चिम में इसे कोई नहीं जनता था। यह वृक्ष आयुर्वेद की वैज्ञानिक दृष्टि थी। विचार करने की विषय यह है कि अनुसंधान की परम्परा चलते रहने और अंत में इतनी गहन वैज्ञानिक दृष्टि को पाने में कितने वर्ष लगे होंगे। क्योंकि किसी और देश में वनस्पति शास्त्र का इतना प्राचीन और गहन अध्ययन नहीं हुआ है जितना कि भारत में। परन्तु हमारे वनस्पति शास्त्र के विद्वान इन सन्दभों को पाठ्य पुस्तकों में नहीं रखते, क्योंकि वे संस्कृत नहीं जानते। वे संस्कृत स्वयं पढ़ें या न पढ़ें, परन्तु यदि विज्ञान के विद्यार्थी के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य कर दें तो इस देश के ज्ञान-विज्ञान का मार्ग स्वत: प्रशस्त हो जाएगा। जिसको संस्कृत का ज्ञान नहीं है उसे वृक्ष आयुर्वेद का ज्ञान कहां से होगा?

इसी प्रकार-प्रसिद्ध ग्रंथ च्ड़त्ड्ढदड़द्यत्ढत्ड़ ण्ड्ढद्धत्द्यठ्ठढ़ड्ढ दृढ क्ष्दड्डत्ठ्ठ के पृष्ठ १६३ में वृक्षों का विभिन्न वर्गीकरण, जो चरक, सुश्रुत, महर्षि पाराशर आदि ने किया है, उसका वर्णन है। वह भी वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में भारत की प्रगति को दर्शाता है।

चरक का वर्गीकरण

चरक अपनी 'चरक संहिता' में वनस्पतियों का चार प्रकार से वर्गीकरण करते हैं:-

(१) जिनमें फूल के बिना ही फलों की उत्पत्ति होती है जैसे गूलर, कटहल आदि।

(२) वानस्पत्य- जिनमें फूल के बाद फल लगते हैं जैसे आम, अमरूद आदि।

(३) औषधि-जो फल पकने के बाद स्वयं सूखकर गिर पड़ें, उन्हें औषधि कहते हैं। जैसे गेंहू, जौ, चना आदि।

(४) वीरुध- जिनके तन्तु निकलते हैं, उन्हें वीरुध कहते हैं, जैसे लताएं, बेल, गुल्म आदि।

इसी प्रकार वनस्पति के प्रयोग के अनुसार भी कुछ वर्गीकरण हैं-

(अ) मूलिनी-जिसका मूल अन्य अंगों की अपेक्षा प्रायोगिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। इनकी सोलह संख्या बताई है।

(ब) फलनी- जिनका फल प्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें उन्नीस प्रकार के पौधे बताये हैं। चरक ऋषि ने मानव के आहार योग्य वनस्पतियों को सात भागों में बांटा है।

(१) शूक धान्य- जिन पर शूक (बाल) निकलते हैं जैसे गेहूं, जौ आदि

(२) शिम्बी धान्य-फली की जाति वाले, जिन पर छिलका रहता है। जैसे सेम, मटर, मूंग, उड़द, अरहर आदि।

(३) शाक वर्ग- पालक, मेथी, बथुआ आदि।

(४) फल वर्ग-विभिन्न प्रकार के फल।

(५) हरित वर्ग- विभिन्न प्रकार की तरकारी, लौकी, तोरई आदि।

(६) आहार योनि वर्ग-तिल, मसाले आदि जिनका आहार में उपयोग होता है।

(७) इक्षु वर्ग- गन्ना और उसकी जातियां।

सुश्रुत का वर्गीकरण: सुश्रुत ने शाकों को दस वर्गों में बांटा है।

(१) मूल- मूली आदि। (२) पत्र- जिनके पत्तों का उपयोग होता है। (३) करीर - जिनके अंकुर का उपयोग होता है, जैसे बास। (४) अग्र-बेंत आदि। (५) फल - सभी फलदार पौधे। (६) काण्ड - कृष्माण्ड आदि। (७) अधिरुढ़-लता आदि। (८) त्वक्-मातुलुंग आदि। (९) पुष्प-कचनार आदि। (१०) कवक

महर्षि पाराशर का वर्गीकरण

महर्षि पराशर ने सपुष्प वनस्पतियों को विविध परिवारों में बांटा है। जैसे शमीगणीय (फलियों वाले पौधे), पिपीलिका गणीय, स्वास्तिक गणीय, त्रिपुण्डक् गणीय, मल्लिका गणीय और कूर्च गणीय। आश्चर्य की बात यह है कि जो विभाजन महर्षि पाराशर ने किया है, आधुनिक वनस्पति विज्ञान का विभाजन भी इससे मिलता-जुलता है।

उदाहरण के लिए- शमीगणीय विभाजन देखें-

सभी तु तुण्दमण्डला विषमविदलास्मृता।
पञ्चमुक्तदलैश्चैव युक्तजालकरुर्णितै:॥
दशभि: केशरैर्विद्यात् समि पुष्पस्य लक्षणम्।
सभी सिम्बिफला ज्ञेया पार्श्व बीजा भवेत् सा॥
वक्रं विकर्णिकं पुष्पं शुकाख्य पुष्पमेव च
एतैश्च पुष्पभेदैस्तु भिद्यन्ते समिजातय:॥
वृक्षायुर्वेद-पुष्पांगसूत्राध्याय

पराशर के अनुसार - आधुनिक मान्यता

तुण्डमण्डल - क़थ्दृध्ड्ढद्धद्म ण्न्द्रदृढ़ठ्ठथ्द्रद्म

विषम विदल - छदड्ढद्दद्रठ्ठथ् ड़दृद्धदृथ्थ्ठ थ्दृडड्ढद्म

पंच मुक्तदल - क़त्ध्ड्डद्यद्धद्वड्ड घ्ड्डद्यठ्ठथ्ध्म

युक्त जालिका - च्न्दड्डध्मद्रण्ठ्ठथ्दृद्वध्म क्दृद्धदृथ्थ्ठ्ठ

दश प्रिकेसर - च्ड्डद च्द्यठ्ठदथ्ड्डदध्म

इसी प्रकार अन्य विभाजन भी हैं। संस्कृत भाषा में इन नामों की उपयुक्तता और अभिव्यक्ति के कारण सर विलियम जोन्स ने कहा था 'यदि लिनियस (आधुनिक वर्गीकरण विज्ञान का जनक) ने संस्कृत सीख ली होती तो उसके द्वारा वह अपनी नामकरण पद्धति का और अधिक विकास कर पाता।'

मूल से जल का पीना-वृक्षों द्वारा द्रव आहार लेने का ज्ञान भारतीयों को था। अत: उनका नाम पादप, जो मूल से पानी पीता है, रखा गया था। महाभारत के शांतिपर्व में वर्णन आता है।

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत।
तथा पवनसंयुक्त: पादै: पिबति पादप:॥ जैसे कमल नाल को मुख में रखकर अवचूषण करने से पानी पिया जा सकता है, ठीक वैसे ही पौधे वायु की सहायता से मूलों के द्वारा पानी पीते हैं।

वनस्पतियों के रोग-वराह मिहिर की 'बृहत्संहिता' में चार प्रकार के वनस्पतियों के रोगों का वर्णन है, आधुनिक विवरण भी उसकी पुष्टि करते हैं।

बृहत् संहिता आधुनिक

(१) पाण्डु पत्रता - पर्णों की पाण्डुता
(क्ण्दृथ्दृद्धदृध्मत्ध्म दृढ थ्ड्डठ्ठध्ड्डध्म)

(२) प्रवाल अवृद्धि - कलियों का पतन
(क़ठ्ठथ्थ्त्दढ़ दृढ डद्वड्डध्म)

(३) शाखा शोष - डालियों का सूखना
(क़्द्धन्त्दढ़ द्वद्र दृढ एद्धठ्ठदड़ण्ड्डध्म)

(४) रस स्रुति - रस नि:स्राव
(कन्द्वड्डठ्ठद्यत्दृद दृढ ध्मठ्ठद्र)

आनुवंशिकता- ऋ क्दृदड़त्ध्मड्ड क्तत्ध्मद्यदृद्धन्न दृढ च्ड़त्ड्डदड़ड्ड त्द क्ष्दड्डत्ठ्ठ में दिया गया है कि चरक और सुश्रुत ने विवरण दिया है कि 'फूल के फलित अंड में वनस्पति के सभी अंग सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं, जो बाद में एक-एक करके

प्रकट होते हैं।'

जगदीश चन्द्र बसु का योगदान-

अर्वाचीन काल में भी वनस्पति शास्त्र के क्षेत्र में जिनका अप्रतिम योगदान रहा, उन महान विज्ञानी जगदीश चन्द्र बसु के बारे में देश कितना जानता है? वर्तमान काल में जगदीश चन्द्र बसु ने सिद्ध किया कि चेतना केवल मनुष्यों और पशुओं तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह वृक्षों और जिन्हें निर्जीव पदार्थ माना जाता है, उनके अंदर भी समाहित है। इस प्रकार उन्होंने आधुनिक जगत के सामने जीवन के एकत्व को प्रकट किया। उन्होंने कहा कि निर्जीव व सजीव दोनों निरपेक्ष नहीं, अपितु सापेक्ष हैं। उनमें अंतर केवल इतना ही है कि धातुएं थोड़ी कम संवेदनशील होती हैं, वृक्ष कुछ अधिक संवेदनशील होते हैं, पशु कुछ और अधिक तथा मनुष्य सर्वाधिक संवेदनशील होते हैं। इनमें डिग्री का अंतर है, परन्तु चेतना सभी के अंदर है।

सन् १८९५ के आस-पास जगदीश चन्द्र बसु वैज्ञानिक प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने धात्विक डिटेक्टर में तरंगे भेजीं। उसके परिणामस्वरूप डिटेक्टर पर कुछ संकेत चित्र आए। यह प्रयोग बार-बार करने पर एक अंतर उनके ध्यान में आया कि संकेत चित्र प्रारंभ में जितने स्पष्ट आ रहे थे, बार-बार प्रयोग दोहराने पर वे थोड़ा मंद होने लगे। यह देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ क्योंकि जो निर्जीव हैं, उनमें प्रतिसाद कम-ज्यादा नहीं होना चाहिए, वह तो यांत्रिक होने के कारण एक जैसा होना चाहिए। प्रतिसाद का कम-ज्यादा होना तो पेशियों का स्वभाव है। उनमें जब थकान आती है तो प्रतिसाद कम होता है तथा कुछ समय आराम मिला तो प्रतिसाद अधिक होता है। अत: डिटेक्टर में प्रतिसाद कम- अधिक देखकर उन्हें शंका हुई और उन्होंने डिटेक्टर को कुछ समय आराम देकर प्रयोग को पुन: दोहराया और वे आश्चर्यचकित हो गए। क्योंकि आराम मिलने के बाद संकेत चित्र पुन: वैसे ही आने लगे। वे सोचने लगे, यह क्यों है? अपने प्रयोग को कई बार दोहराकर उन्होंने जांचा-परखा तथा यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि निर्जीव के अंदर भी संवेदनशीलता है। अंतर केवल इतना है कि वह निश्चेष्ट (इनर्ट) है।

जगदीश चन्द्र बसु ने जब यह सिद्ध किया, उस समय पश्चिम के वैज्ञानिकों की क्या हालत थी, इसका अनुभव निम्न प्रसंग से किया जा सकता है। रायल साइंटिफिक सोसायटी में जगदीश चन्द्र बसु का भाषण होने वाला था तो इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध बायोलाजिस्ट हारटांग को हॉब्ज नामक विद्वान ने कहा, आज जगदीश चन्द्र बसु का भाषण होने वाला है जिन्होंने यह सिद्ध किया है कि वनस्पतियों और निर्जीवों में भी जीवन रहता है। आप भाषण सुनने चलेंगे? हारटांग की प्रथम प्रतिक्रिया थी 'मैं अभी होश में हूं, मैंने पी नहीं रखी है। आपने कैसे समझ लिया कि मैं ऐसी वाहियात बातों पर विश्वास करूंगा।' फिर भी मजा देखने की मानसिकता से वे भाषण सुनने आए। और भी लोग हंसी उड़ाने की मानसिकता से वहां आए। जगदीशचन्द्र बसु ने केवल मौखिक भाषण ही नहीं दिया अपितु यंत्रों के सहारे प्रत्यक्ष प्रयोगों का प्रदर्शन करते हुए जब अपनी बात सिद्ध करना प्रारंभ किया, तो हॉल में बैठे सभी विद्वान् जो प्रारंभ में उपेक्षा की नजर से देख रहे थे, १५ मिनट बीतते-बीतते तालियां बजाने लगे। सारा हाल उनकी तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा। भाषण व प्रयोगों के अंत में जब सभा के अध्यक्ष ने पूछा कि किसी को कोई शंका, कोई प्रश्न हो तो वक्ता से पूछ सकते हैं। तीन बार दोहराने पर भी जब कोई नहीं बोला, तब प्रो. हॉब्ज खड़े हुए और उन्होंने कहा कि कुछ भी पूछने लायक नहीं है। बसु महोदय ने

अत्यंत प्रामाणिकता से अपनी बात सिद्ध की है। उनके भाषण व प्रयोग को देखकर मन में शंका उठती थी, परन्तु अगले ही क्षण दूसरे प्रयोग को देखकर उस शंका का निरसन हो जाता था। रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष ने भी जगदीशचन्द्र बसु के जीवन के एकीकरण को सिद्ध करने की दिशा के सफल प्रयत्न के प्रति विश्वास प्रकट किया।

आगे चलकर बसु महोदय ने वृक्षों के ऊपर बहुत गहराई से प्रयोग किए। अपने साथ पौधों को लेकर दुनिया की यात्रा की। अनेक संवेदनशील यंत्र बनाये जिनमें वृक्षों के अन्दर होने वाले सूक्ष्मतम परिवर्तन प्रत्यक्ष देखे जा सकते थे। उन्होंने क्रेस्कोग्राफ नामक यंत्र बनाया, जो संवेदनाओं को एक करोड़ गुना अधिक बड़ा कर बताता था। जब पौधों को वे यंत्र लगा दिए जाते थे, तो पौधे दिन भर में क्या-क्या अनुभूतियां उन्हें हो रही हैं, इसकी कहानी मानों वे स्वयं कहने लगते थे। इस प्रकार उन्होंने अपने प्रयोगों और अनुभवों को छ्दत्द्यन्र दृढ थ्त्ढड्ढ, ध्दृत्ड्ड्ढ दृढ थ्त्ढड्ढ आदि लेखों में अभिव्यक्त किया तथा वनस्पति में, पशुओं में, पक्षियों में, कीड़े-मकोड़ों और सारी सृष्टि में चेतना है, इस प्राचीन अवधारणा को आधुनिक युग में सिद्ध किया।

कृषि में हमेशा ही अग्रणी रहा है भारत

लेखक - सुरेश सोनी

उदयपुर कृषि विश्वविद्यालय में एक वाक्य लिखा है-

'हल की नोक से खींची रेखा मानव इतिहास में जंगलीपन और सभ्यता के बीच की विभाजक रेखा है।'

विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में कृषि का गौरवपूर्ण उल्लेख मिलता है।

अक्षैर्मा दीव्य: कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमान:। ऋग्वेद- ३४-१३

अर्थात् जुआ मत खेलो, कृषि करो और सम्मान के साथ धन पाओ।

कृषिर्धन्या कृषिर्मेध्या जन्तूनां जीवनं कृषि:।

(कृषि पाराशर-श्लोक-८)

अर्थात् कृषि सम्पत्ति और मेधा प्रदान करती है और कृषि ही मानव जीवन का आधार है।

वैदिक काल में ही बीजवपन, कटाई आदि क्रियाएं, हल, हंसिया, चलनी आदि उपकरण तथा गेहूं, धान, जौ आदि अनेक धान्यों का उत्पादन होता था। चक्रीय परती के द्वारा मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने की परम्परा के निर्माण का श्रेय उस समय के

कृषकों को जाता है। यूरोपीय वनस्पति विज्ञान के जनक रोम्सबर्ग के अनुसार इस पद्धति को पश्चिम ने बाद के दिनों में अपनाया।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में मौर्य राजाओं के काल में कृषि, कृषि उत्पादन आदि को बढ़ावा देने हेतु कृषि अधिकारी की नियुक्ति का वर्णन मिलता है।

कृषि हेतु सिंचाई की व्यवस्था विकसित की गई। यूनानी यात्री मेगस्थनीज ने लिखा है कि मुख्य नाले और उसकी शाखाओं में जल के समान वितरण को निश्चित करने व नदी और कुओं के निरीक्षण के लिए राजा द्वारा अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी।

कृषि के संदर्भ में नारदस्मृति, विष्णु धर्मोत्तर, अग्नि पुराण आदि में उल्लेख मिलते हैं। कृषि पाराशर, कृषि के संदर्भ में एक संदर्भ ग्रंथ बन गया। इस ग्रंथ में कुछ विशेष बातें कृषि के संदर्भ में कही गई हैं।

जुताई- इसमें कितने क्षेत्र की जुताई करना, उस हेतु हल, उसके अंक आदि का वर्णन है। इसी प्रकार जोतने वाले बैल, उनका रंग, प्रकृति तथा कृषि कार्य करवाते समय उनके प्रति मानवीय दृष्टिकोण रखने का वर्णन भी इस ग्रंथ में मिलता है।

वर्षा के बारे में भविष्यवाणी- प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण, ग्रहों की गति तथा प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों का गहरा अभ्यास प्राचीन काल के व्यक्तियों ने किया था, उसी आधार पर वे वर्षा की भविष्यवाणियां करते थे।

जिस वर्ष में जो ग्रह प्रमुखता में रहेगा उस आधार पर क्या-क्या परिणाम होते हैं, इसका वर्णन करते हुए पाराशर ऋषि कहते हैं-

'जिस वर्ष सूर्य अधिपति होगा उस वर्ष में वर्षा कम होगी और मानवों को कष्ट सहन करना पड़ेगा। जिस वर्ष का अधिपति चन्द्र होगा, उस वर्ष अच्छी वर्षा और वनस्पति की वृद्धि होगी। लोग स्वस्थ रहेंगे। उसी प्रकार बुध, बृहस्पति और शुक्र की वर्षाधिपति होने पर भी स्थिति ठीक रहेगी। परन्तु जिस वर्ष शनि वर्षाधिपति होगा, हर जगह विपत्ति होगी।'

जुताई का समय-नक्षत्र तथा काल के निरीक्षण के आधार पर जुताई के लिए कौन-सा समय उपयुक्त रहेगा, इसका निर्धारण उन्होंने किया।

बीजवपन- उत्तम बीज संग्रह हेतु पाराशर ऋषि, गर्ग ऋषि का मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि बीज को माघ (जनवरी-फरवरी) या फाल्गुन (फरवरी-मार्च) माह में संग्रहित करके धूप में सुखाना चाहिए तथा उन बीजों को बाद में अच्छी और सुरक्षित जगह रखना चाहिए।

वर्षा मापन- 'कृषि पाराशर' में वर्षा को मापने का भी वर्णन मिलता है।

अथ जलाढक निर्णय:
शतयोजनविस्तीर्णं त्रिंशद्योजनमुच्छ्रितम्।
अढकस्य भवेन्मानं मुनिभि: परिकीर्तितम्॥
(कृषि पाराशर)

अर्थात्- पूर्व में ऋषियों ने वर्षा को मापने का पैमाना तय किया है। अढक यानी सौ योजन विस्तीर्ण तथा ३०० योजन ऊंचाई में वर्षा के पानी की मात्रा।

योजन उ १ अंगुली की चौड़ाई
१ द्रोण उ ४ अढक उ ६.४ से.मी.
आजकल का वर्षा मापन भी इतना ही आता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में द्रोण के आधार पर वर्षा मापने का उल्लेख तथा देश में कहां-कहां कितनी वर्षा होती है, इसका भी उल्लेख मिलता है।

उपरोपण (ग्राफ्टिंग)- वराहमिहिर अपनी बृहत् संहिता में उपरोपण की दो विधियां बताते हैं।

थ् जड़ से पेड़ को काटना और दूसरे को तने (द्यद्धद्वदत्त्) से काटकर सन्निविष्ट (क्ष्दद्मड्ढद्धद्य) करना।

थ् क्ष्दद्मड्ढद्धद्यत्दढ़ द्यण्ड्ढ ड़द्वद्यद्यत्दढ़ दृढ ठ्ठ द्यद्धड्ढड्ढ त्दद्यदृ द्यण्ड्ढ द्मद्यड्ढथ्र् दृढ ठ्ठददृद्यण्ड्ढद्ध जहां दोनों जुड़ेंगे, वहां मिट्टी और गोबर से उनको बंद कर आच्छादित करना।

इसी के साथ वराहमिहिर किस मौसम में किस प्रकार के पौधे की उपरोपण (ग्राफ्टिंग) करना, इसका भी उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं-

शिशिर ऋतु (फरवरी-मार्च) में उन पौधों का उपरोपण करना चाहिए जिनकी शाखाएं नहीं हैं।

हेमन्त ऋतु (दिसम्बर-जनवरी) तथा शरद ऋतु (अगस्त-सितम्बर) में उनका उपरोपण करना चाहिए जिनकी शाखाएं बहुत हैं।

किस मौसम में कितना पानी प्रतिरोपण किए पौधों को देना, इसका उल्लेख करते हुए वराहमिहिर कहते हैं 'गरमी में प्रतिरोपण किए पौधे को प्रतिदिन सुबह तथा शाम को पानी दिया जाए। शीत ऋतु में एक दिन छोड़कर तथा वर्षाकाल में जब-जब मिट्टी सूखी हो।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल से भारत में कृषि एक विज्ञान के रूप में विकसित हुई। जिसके कारण हजारों वर्ष

बीतने के बाद भी हमारे यहां भूमि की उर्वरा शक्ति अक्षुण्ण बनी रही, जबकि कुछ दशाब्दियों में ही अमरीका में लाखों हेक्टेयर भूमि बंजर हो गई है।

भारतीय कृषि पद्धति की विशेषता एवं इसके उपकरणों का जो प्रशंसापूर्ण उल्लेख अंग्रेजों द्वारा किया गया, उसका उल्लेख श्री धर्मपाल की पुस्तक 'इन्डियन साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी इन दी एटीन्थ सेन्चुरी' में दिया गया है। उस समय भारत कृषि के सुविकसित साधनों में दुनिया में अग्रणी था। कृषि क्षेत्र में पंक्ति में बोने के तरीके को इस क्षेत्र में बहुत कुशल और उपयोगी अनुसंधान माना जाता है। आस्ट्रिया में इसका प्रयोग सन् १६६२ तथा इंग्लैण्ड में १७३० में हुआ। हालांकि इसका व्यापक प्रचार-प्रसार वहां इसके ५० वर्ष बाद हो पाया। पर मेजर जनरल अलेक्झेंडर वाकर के अनुसार पंक्ति में बोने का प्रयोग भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता आया है। थॉमस राल्काट ने १७९७ में इंग्लैण्ड के कृषि बोर्ड को लिखे एक पत्र में बताया कि, भारत में इसका प्रयोग प्राचीन काल से होता रहा है। उसने बोर्ड को पंक्तियुक्त हलों के तीन सेट लन्दन भेजे ताकि इन हलों की नकल अंग्रेज कर सकें, क्योंकि ये अंग्रेजी हलों की अपेक्षा अधिक उपयोगी और सस्ते थे।

भारतीय कृषि पद्धति की सराहना करते हुए सर वाकर लिखते हैं- 'भारत में शायद विश्व के किसी भी देश से अधिक किस्मों का अनाज बोया जाता है और तरह-तरह की पौष्टिक जड़ों वाली फसलों का भी यहां प्रचलन है। मेरी समझ में नहीं आता कि हम भारत को क्या दे सकते हैं, क्योंकि जो खाद्यान्न हमारे यहां हैं, वे तो वहां हैं ही, और भी अनेक विशेष प्रकार के अन्न वहां हैं।

प्राणि विज्ञान का गूढ़ ज्ञान

लेखक - सुरेश सोनी

भारतीय परम्परा के अनुसार सृष्टि में जीवन का विकास क्रमिक रूप से हुआ है। इसकी अभिव्यक्ति अनेक ग्रंथों में हुई है। श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णन आता है-

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्तया
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैर अतुष्टहृदय: पुरुषं विधाय
व्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देव:॥ ११-९-२८

विश्व की मूलभूत शक्ति सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त हुई। इस क्रम में वृक्ष, सरीसृप, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, मत्स्य आदि अनेक रूपों में सृजन हुआ। परन्तु उससे उस चेतना को पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हुई, अत: मनुष्य का निर्माण हुआ जो उस मूल तत्व का साक्षात्कार कर सकता था।

प्राणियों का प्राचीन भारतीय वर्गीकरण

दूसरी बात, भारतीय परम्परा में जीवन के प्रारंभ से मानव तक की यात्रा में ८४ लाख योनियों (द्मद्रड्डड़त्ड्ढद्म) के बारे में कहा गया। आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि अमीबा से लेकर मानव तक की यात्रा में चेतना १ करोड़ ४४ लाख योनियों से गुजरी है। आज से हजारों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजों ने यह साक्षात्कार किया, यह आश्चर्यजनक है। अनेक आचार्यों ने इन ८४ लाख योनियों का वर्गीकरण किया है।

समस्त प्राणियों को दो भागों में बांटा गया है, योनिज तथा आयोनिज। दो के संयोग से उत्पन्न या अपने आप ही अमीबा की तरह विकसित होने वाले।

इसके अतिरिक्त स्थूल रूप से प्राणियों को तीन भागों में बांटा गया:-

1. जलचर - जल में रहने वाले सभी प्राणी।
2. थलचर - पृथ्वी पर विचरण करने वाले सभी प्राणी।
3. नभचर - आकाश में विहार करने वाले सभी प्राणी।

इसके अतिरिक्त प्राणियों की उत्पत्ति के आधार पर ८४ लाख योनियों को चार प्रकार में वर्गीकृत किया गया।

1. जरायुज - माता के गर्भ से जन्म लेने वाले मनुष्य, पशु जरायुज कहलाते हैं।
2. अण्डज - अण्डों से उत्पन्न होने वाले प्राणी अण्डज कहलाये।
3. स्वदेज- मल, मूत्र, पसीना आदि से उत्पन्न क्षुद्र जन्तु स्वेदज कहलाते हैं।
4. उदि्भज- पृथ्वी से उत्पन्न प्राणियों को उदि्भज वर्ग में शामिल किया गया।

बृहत् विष्णु पुराण में संख्या के आधार पर विविध योनियों का वर्गीकरण किया गया।

स्थावर - २० लाख प्रकार
जलज - ९ लाख प्रकार
कूर्म- भूमि व जल दोनों जगह गति ऐ ९ लाख प्रकार
पक्षी- १० लाख प्रकार
पशु- ३० लाख प्रकार
वानर - ४ लाख प्रकार
शेष मानव योनि में।

इसमें एक-एक योनि का भी विस्तार से विचार हुआ। पशुओं को साधारणत: दो भागों में बांटा (१) पालतू (२) जंगली।

इसी प्रकार शरीर रचना के आधार पर भी वर्गीकरण हुआ।

इसका उल्लेख विभिन्न आचार्यों के वर्गीकरण के सहारे 'प्राचीन भारत में विज्ञान और शिल्प' ग्रंथ में किया गया है। इसके

अनुसार (१) एक शफ (एक खुर वाले पशु) - खर (गधा), अश्व (घोड़ा), अश्वतर (खच्चर), गौर (एक प्रकार की भैंस), हिरण इत्यादि।

(२) द्विशफ (दो खुल वाले पशु)- गाय, बकरी, भैंस, कृष्ण मृग आदि।

(३) पंच अंगुल (पांच अंगुली) नखों (पंजों) वाले पशु- सिंह, व्याघ्र, गज, भालू, श्वान (कुत्ता), श्रृगाल आदि। (प्राचीन भारत में विज्ञान और शिल्प-पृ. सं. १०७-११०)

डा. विद्याधर शर्मा 'गुलेरी' अपने ग्रंथ 'संस्कृत में विज्ञान' में चरक द्वारा किए गए प्राणियों के वर्गीकरण के बारे में बताते हैं।

चरक का वर्गीकरण

चरक ने भी प्राणियों को उनके जन्म के अनुसार जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उदि्भज वर्गों में विभाजित किया है (चरक संहिता, सूत्रस्थान, २७/३५-५४) उन्होंने प्राणियों के आहार-विहार के आधार पर भी निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया है-

1. १. प्रसह- जो बलात् छीनकर खाते हैं। इस वर्ग में गौ, गदहा, खच्चर, ऊंट, घोड़ा, चीता, सिंह, रीछ, वानर, भेड़िया, व्याघ्र, पर्वतों के पास रहने वाले बहुत बालों वाले कुत्ते, बभ्रु, मार्जार, कुत्ता, चूहा, लोमड़ी, गीदड़, बाघ, बाज, कौवा, शशघ्री (ऐसे पक्षी जो शशक को भी अपने पंजों में पकड़ कर उठा ले जाते हैं) चील, भास, गिद्ध, उल्लू, सामान्य घरेलू चिड़िया (गौरेया), कुरर (वह पक्षी जो जल स्थित मछली को अपने नख से भेद कर उड़ा ले जाता है।)
2. भूमिशय-बिलों में रहने वाले जन्तु-सर्प (श्वेत-श्यामवर्ण का) चित्रपृष्ठ (जिसकी पृष्ठ चित्रित होती है), काकुली मृग- एक विशेष प्रकार का सर्प- मालुयासर्प, मण्डूक (मेंढक) गोह, सेह, गण्डक, कदली (व्याघ्र के आकार की बड़ी बिल्ली), नकुल (नेवला), श्वावित् (सेह का भेद), चूहा आदि।
3. अनूपदेश के पशु-अर्थात् जल प्रधान देश में रहने वाले प्राणी। इन में सूकर (महा शूकर), चमर (जिनकी पूंछ चंवर बनाने के काम आती है), गैण्डा, महिष (जंगली भैंसा), नीलगाय, हाथी, हिरण , वराह (सुअर) बारहसिंगा- बहुत सिंगों वाले हिरण सम्मिलित हैं।
4. वारिशय-जल में रहने वाले जन्तु-कछुआ, केकड़ा, मछली, शिशुमार (घड़ियाल, नक्र की एक जाति) पक्षी। हंस, तिमिंगिल, शुक्ति (सीप का कीड़ा), शंख, ऊदबिलाव, कुम्भीर (घड़ियाल), मकर (मगरमच्छ) आदि।
5. वारिचारी-जल में संचार करने वाले पक्षी - हंस क्रौञ्च, बलाका, बगुला, कारण्डव (एक प्रकार का हंस), प्लव, शरारी, केशरी, मानतुण्डका, मृणालण्ठ, मद्गु (जलकाक), कादम्ब (कलहंस), काकतुण्डका (श्वेत कारण्डव-हंस की जाति) उत्क्रोश (कुरर पक्षी की जाति) पुण्डरीकाक्ष, चातक, जलमुर्गा, नन्दी मुखी, समुख, सहचारी, रोहिणी, सारस, चकवा आदि।

6. जांगल पशु- स्थल पर उत्पन्न होने वाले तथा जंगल में संचार करने वाले पशु- चीतल, हिरण, शरभ (ऊंट के सदृश बड़ा और आठ पैर वाला, जिसमें चार पैर पीठ पर होते हैं-ऐसा मृग), चारुष्क (हरिण की जाति) लाल वर्ण का हरिण, एण (काला हिरण) शम्बर (हिरण भेद) वरपोत (मृग भेद), ऋष्य आदि जंगली मृग।
7. विष्किर पक्षी-जो अपनी चोंच और पैरों से इधर-उधर बिखेर कर खाते हैं, वे विष्किर पक्षी हैं। इनमें लावा (बटेर), तीतर, श्वेत तीतर, चकोर, उपचक्र (चकोर का एक भेद), लाल वर्ग का कुक्कुभ (कुको), वर्तक, वर्तिका, मोर, मुर्गा, कंक, गिरिवर्तक, गोनर्द, क्रनर और बारट आदि।
8. प्रतुद पक्षी-जो चोंच या पंजों से बार-बार चोट लगाकर आहार को खाते हैं। कठफोड़ा भृंगराज (कृष्णवर्ण का पक्षी विशेष), जीवंजीवक, (विष को देखने से ही इस पक्षी की मृत्यु हो जाती है), कोकिल, कैरात (कोकिक का भेद), गोपपुत्र- प्रियात्मज, लट्वा, बभ्रु, वटहा, डिण्डिमानक, जटायु, लौहपृष्ठ, बया, कपोत (घुग्घु), तोता, सारंग (चातक), शिरटी, शरिका (मैना) कलविंक (गृहचटक अथवा लाल सिर और काली गर्दन वाली गृहचटक सदृश चिड़ियां), चटक, बुलबुल, कबूतर आदि।

उपर्युक्त वर्गीकरण के साथ चरक ने इन प्राणियों की मांस और उसके उपयोग के साथ ही बात, पित्त और कफ पर उसके प्रभाव की भी विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। चकोर, मुर्गी, मोर, बया और चिड़ियों के अंडों की भी आहार के रूप में चर्चा की गई है।

ऐसे ही सुश्रुत की सुश्रुत संहिता, पाणिनि के अष्टाध्यायी, पतञ्जलि के महाभाष्य, अमर सिंह के अमरकोष, दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य आदि ग्रंथों में प्राणियों के वर्गीकरण के विस्तृत विवरण मिलते हैं। (प्राचीन भारत में विज्ञान और शिल्प- पृ.सं.११५-११७)

पशु-चिकित्सा

पुराणों के अन्य विषयों के साथ-साथ पशु-चिकित्सा के विषय में भी उल्लेख मिलते हैं। अश्वों की चिकित्सा के लिए आयुर्वेद का एक अलग विभाग था। इसका 'शालिहोत्र' नाम रखा गया। अश्वों के सामान्य परिचय, उनके चलने के प्रकार, उनके रोग और उपचार आदि विषय पुराणों में वर्णित हैं। अग्निपुराण में अश्वचालन और अश्वचिकित्सा का विस्तृत विवरण है। गजचिकित्सा के साथ ही गजशान्ति के उपाय भी बताये गए हैं। गरुड़पुराण में भी पालकाप्य ऋषि के हस्तिविद्या विषयक ग्रन्थ का उल्लेख है। अग्निपुराण में गायों की चिकित्सा का विस्तृत विवरण है।

शालिहोत्र संहिता में अश्वचिकित्सा

मानव चिकित्सा क्षेत्र में चरक संहिता और सुश्रुतसंहिता जितनी महत्वपूर्ण हैं, अश्वचिकित्सा क्षेत्र में शालिहोत्र संहिता उतनी ही महत्वपूर्ण है। शालिहोत्र का काल ई।पू. लगभग ८०० वर्ष आंका जा सकता है। उनकी संहिता 'हय आयुर्वेद' एवं 'तुरगशास्त्र' के नाम से भी प्रसिद्ध रही है। मूल ग्रन्थ में १२,००० श्लोकों का समावेश है। यह आठ भागों में विभक्त था। इस ग्रन्थ के कुछ ही भाग अब उपलब्ध हैं। इसमें अश्वों के लक्षण, उनके सभी रोग और उनके निदान, चिकित्सा, औषधियों और उनके स्वास्थ्य रक्षण के विचार विस्तार से बताए गए हैं। इस संहिता का अनुवाद अरबी, फारसी, तिब्बती

एवं अंग्रेजी भाषाओं में किया गया है। पशुचिकित्सा विशेषज्ञों के अनुसार यह अश्व चिकित्सा के आधुनिक ग्रन्थ से भी उत्कृष्ट ग्रन्थ है। (प्राचीन भारत में विज्ञान शिल्प- पृ. सं. १२५-१२६)

स्वास्थ्य विज्ञान -१ त्रिदोष का महत्व

लेखक - सुरेश सोनी

एक बार प्रसिद्ध आयुर्वेद चिकित्सक पं. शिव शर्मा से एक ऐलौपैथी चिकित्सक ने प्रश्न किया, 'आयुर्वेद और एलोपैथी में क्या अंतर है?' इस प्रश्न के उत्तर में पं. शिव शर्मा ने कहा, 'जब आपके क्लीनिक में कोई व्यक्ति आता है तो कहते हैं एक पेशेन्ट (रोगी) आया है। परन्तु वास्तव में उसका अर्थ है ठ्ठ द्यदृद्वदढ़ड्ढ, ठ्ठद ड्ढठ्ठद्ध, ठ्ठ ददृद्मड्ढ, ठ्ठ द्मद्यदृथ्ठ्ठड़ण्, ठ्ठ ण्ठ्ठदड्ड, ठ्ठ थ्ड्ढढ़ यानी एक अंग आता है। जबकि वैद्य के पास कोई रोगी आता है तो वह व्यक्ति, उसका आहार-विहार, पृष्ठभूमि सब आता है।'

यह वार्तालाप स्वास्थ्य विज्ञान का विचार करते समय भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टि के अन्तर को स्पष्ट करता है। हमारे यहां स्वास्थ्य का विचार करते समय मात्र शरीर ही नहीं अपितु स्वास्थ्य के साथ विचार, भावना, जलवायु, परिवेश आदि सबका विचार किया गया। मनुष्य को दु:ख दोनों प्रकार का होता है। शरीर में भी रोग होते हैं तथा मन में भी। अत: रोगों का विभाजन किया गया-

(१) आधि- मन के रोग
(२) व्याधि-शरीर के रोग

स्वास्थ्य का विचार करते समय मात्र शरीर के धरातल पर सोचने से काम नहीं चलेगा, अपितु अनेक स्तरों पर विचार करना पड़ेगा। योग वाशिष्ठ में रोगों का विश्लेषण करते हुए महर्षि वशिष्ठ श्रीराम से कहते हैं- रोगों के दो प्रकार होते हैं, एक आधीज है तथा दूसरे अनाधिज। आधीज रोगों के भी दो प्रकार होते हैं

(१) सामान्य-वे रोग जो दुनिया से दैनिक व्यवहार करते समय जो बार-बार तनाव उत्पन्न होता है, उस तनाव के परिणामस्वरूप पैदा होते हैं।

(२) सार-यानी जिसमें से सभी को गुजरना है, किसी को छूट नहीं है, जैसे जन्म एवं मृत्यु।

अनाधिज-वे रोग अनाधिज कहलाते हैं जो किसी मानसिक तनाव में उत्पन्न नहीं होते, जैसे चोट (क्ष्दत्र्द्धद्धन्र) संक्रमण (क्ष्दढड्ढड़द्यत्दृद, च्र्दृन्त्दद्म), यह दवा के माध्यम से ठीक होते हैं।

श्रीराम के प्रश्न करने पर कि आधीज व्याधि में कैसे परिवर्तित होती है। इसका उत्तर देते हुए महर्षि वशिष्ठ कहते हैं,

‘मनुष्य के मन में अनेक लालसाएं, वासनायें रहती हैं, इनकी पूर्ति न होने पर मन क्षुब्ध होता है। मन के क्षुब्ध होने से प्राण क्षुब्ध होता है। यह क्षु ुब्ध प्राण नाड़ी तंत्र में असंयम रूप से प्रवाहित होता है, जैसे कोई घायल पशु अस्त-व्यस्त भागता है। प्राण के इस प्रकार के व्यवहार के कारण स्नायु मंडल अव्यवस्थित हो जाता है और फिर शरीर में कुजीर्णत्व (ध्र्द्धदृदढ़ ड्डत्ढ़ड्ढद्मद्यत्दृद), अजीर्णत्व (ग़्दृद ड्डत्ढ़ड्ढद्मद्यत्दृद) होता है और इस कारण कालान्तर में शरीर में खराबी आ जाती है। इसे ही व्याधि कहते हैं।

(१) भावना तथा विचार की शुद्धि व नियमन हेतु विशेष रूप से योग विज्ञान सहयोगी है।

(२) शरीर के स्तर पर चिकित्सा हेतु आयुर्वेद एवं अन्य पद्धतियां विकसित हुएं। आयुर्वेद में शरीर रचना, रोगोत्पत्ति के कारण, उनके प्रकार, रोगी परीक्षण, औषधि योजना, औषधि निर्माण, शल्य चिकित्सा आदि के द्वारा मनुष्य को निरोगी व सुखी करने हेतु प्रयत्न किए गए।

चिकित्सा विज्ञान के विकास का इतिहास भारत में काफी पुराना है। चरक संहिता के अनुसार व्रह्मा ने प्रजापति को सर्वप्रथम आयुर्वेद का ज्ञान दिया (सूत्र स्थान-१/४५) और उनसे अश्विनी कुमारों को प्राप्त हुआ।

पुराणों में अश्विनी कुमार देवताओं के चिकित्सक के रूप में प्रसिद्ध हैं। चिकित्सा विज्ञान में उनके अनेक कार्य प्रसिद्ध रहे हैं, जैसे यज्ञ में कटे अश्व के सिर को पुन: जोड़ा, पूषन् के दांत टूटने पर नए लगाये, च्यवन ऋषि की नष्ट हुई नेत्रज्योति पुन: वापस दिलायी, उनका वार्धक्य दूर किया आदि। अश्विनी कुमार से इन्द्र को तथा उनसे भारद्वाज ऋषि, उनसे आत्रेय पुनर्वास, उनके शिष्य अग्निवेश, भेल, हारीत आदि को यह ज्ञान प्राप्त हुआ और आगे भी यह परम्परा चलती रही। इस परम्परा को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) धन्वंतरि परम्परा (२) आत्रेय परम्परा

आत्रेय परम्परा में काय चिकित्सा की प्रधानता है तथा इस विषय के प्रसिद्ध आचार्य चरक हुए, जिनकी ‘चरक संहिता‘ प्रसिद्ध है।

धन्वंतरि परम्परा में शल्य चिकित्सा की प्रधानता रही तथा इस विषय के प्रसिद्ध आचार्य सुश्रुत की ‘सुश्रुत संहिता‘ प्रसिद्ध है।

चिकित्सा विज्ञान का विचार करते समय शरीर शास्त्र, औषधि निर्माण, औषधियों के प्रकार, गुण आदि का गहरा विचार किया गया। उसकी कुछ जानकारी नीचे दी जा रही है। इससे ध्यान में आएगा कि जब पाश्चात्य देशों में इस बारे में सोचना संभव नहीं था, हमारे यहां उस समय कितना सूक्ष्म विश्लेषणं किया गया था। कुछ प्रमुख बातों की संक्षेप में जानकारी हम यहां दे रहे हैं-

(१) स्वास्थ्य- चरक संहिता में स्वस्थ मनुष्य की दी गई परिभाषा आधुनिक चिकित्सा शास्त्र से अधिक व्यापक तथा

उपयुक्त है।

समदोष: समाग्निश्च समधातुमलक्रिय:।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना: स्वस्थो इत्यमिधीयते॥ -चरक संहिता

अर्थात्-जिसका त्रिदोष (वात, कफ, पित्त), सप्त धातु, मल प्रवृत्ति आदि क्रियाएं सन्तुलित अवस्था में हो, साथ ही आत्मा, इन्द्रिय एवं मन प्रसन्न स्थिति में हो, वही स्वस्थ मनुष्य कहलाता है।

(२) शरीर रचना में सुश्रुत संहिता में सुश्रुत शारीरे ५,६ के अनुसार शरीर रचना में मुख्य बातें निम्न हैं:-

त्वचा- (च्त्त्द-७), कला- (च्द्वडद्मद्यद्धठ्ठद्यठ्ठ दृढ द्यण्ड्ड ड्ढथ्ड्ढथ्ड्ढदद्यद्म दृढ ण्द्वथ्ठ्ठद डदृड्डन्र-७), आशया- (ङ्ड्ढड़त्द्रत्ड्ढदद्य ध्ड्ढद्मद्मड्ढथ्द्म-७), धातु - (च्ण्ड्ढ घ्द्धत्थ्ठ्ठद्धन्र ढथ्द्धत्ड्डद्म, ख्द्धत्ड़ड्ढद्म ठ्ठदड्ड त्दढ़द्धड्ढड्डत्ड्ढदद्यद्म दृढ द्यण्ड्ड डदृड्डन्र-७), शिरा- (ठ्ठद्धद्यड्ढद्धत्ड्ढद्म-७००), पेशी- (ठ्ठ त्त्दड्ड दृढ थ्द्वद्मड़थ्ड्ढद्म-५००), स्नायु- (द्यड्ढदड्डदृदद्म-९००), अस्थीनि- (एदृदड्ढद्म-३००), संधिया-(ख्दृत्दद्यद्म-२१०), मर्म- (ज्त्द्यठ्ठथ्द्म-१०७), धमनियां- (ध्ड्ढत्दद्म-२४), दोष- (क़्त्द्मदृद्धड्डड्ढद्ध दृढ द्यण्द्धड्ढड्ढ ण्द्वथ्दृद्वद्धद्म-३), मल- (क्ष्थ्द्रद्वद्धड्ढ द्मड्ढड़द्यद्धद्यत्दृदद्म-३), स्रोतांस- (ग़्द्वद्यद्धत्थ्ड्ढदद्य ड़ठ्ठदठ्ठथ्द्म-९), कण्डरा- (च्त्दड्ढध्द्म-६), जाल- (ज़्दृध्ड्ढद द्यड्ढन्द्यद्वद्धड्ढद्म-१६), कूर्चा-(एद्वदड्डथ्ड्ढद्म दृढ थ्द्वद्मड़द्वथ्ठ्ठद्ध डदृदड्ढद्म-१६), रज्जव- (ख्द्रदृदढ़ द्धदृद्रड्ढ-४), शेवन्य - (च्द्यत्द्यड़ण् थ्त्त्ड्ढ ढदृद्धथ्ठ्ठद्यत्दृदद्म-७), संघात- (क्दृथ्थ्ड्ढड़द्यत्दृदद्म दृढ डदृदड्ढद्म-१४), सीमन्त-(द्रठ्ठद्यत्दढ़ थ्त्दड्ढद्म-१४), योगवह स्रोतांसि- (च्द्रड्ढड़त्ठ्ठथ् ड़ठ्ठदठ्ठथ्द्म-२२) आंत्र- (क्ष्दद्यड्ढद्मद्यत्दड्ढद्म-२), रोमकूप- (क्तठ्ठत्द्ध द्रदृद्धड्ढद्म दृढ द्यण्ड्ड च्त्त्द ३१/२ क्द्धदृद्धड्ढ)

(३) हृदय के कार्य- हृदय के संबंध में पश्चिमी देशों का ज्ञान बहुत अर्वाचीन काल का है। विलियम हार्वे नामक ब्रिटिश वैज्ञानिक ने सन् १६२८ में अपने प्रयोगों से यह प्रतिपादित किया था कि रक्त का पहुंचना हृदय के लिए आवश्यक है। परन्तु वह यह नहीं बता सका कि रक्त कैसे पहुंचता है। कुछ वर्षों बाद सन् १६६९ में इटालियन वैज्ञानिक मार्शेलों मल्फीगी ने उस प्रक्रिया को उद्घाटित किया, जिससे रक्त हृदय में पहुंचता है।

परन्तु भारत में ७ हजार से अधिक वर्षों पूर्व 'शतपथ ब्राह्मण' में हृदय के द्वारा होने वाली सम्पूर्ण प्रक्रिया का वर्णन मिलता है। उसमें कहा गया है-

हरतेर्दतातेरयतेर्हृदय शब्द:- निरुक्त

अर्थात्-लेना, देना तथा घुमाना इन तीन क्रियाओं को हृदय शब्द अभिव्यक्त करता है।

हृ (हरणे) उ द्यदृ द्धड्ढड़ड्ढत्ध्ड्ढ, द (दाने) उ द्यदृ घ्द्धदृद्रड्ढथ् य (इण-गतौ)। द्यदृ क्त्द्धड़द्वथ्ठ्ठद्यड्ढ उ हृदयम्-शतपथ ब्राह्मणम्

इसी प्रकार से नाड़ी ज्ञानम् ग्रंथ में लिखा है-

तत्संकोचं च विकासं च स्वत: कुर्यात्पुन: पुन:

अर्थात्-हृदय स्वयं ही संकोच और फैलाव की क्रिया बारम्बार करता रहेगा। एक-दूसरे ग्रंथ भेल संहिता में वर्णन आता है-

हृदो रसो निस्सरित तस्मादेति च सर्वश:।
सिराभिर्हृदयं वैति तस्मात्तत्प्रभवा: सिरा:॥

अर्थात्- हृदय से रक्त निकलता है, वहां से ही शरीर के सभी भागों में जाता है, रक्त नलिकाओं के द्वारा हृदय को जाता है, रक्त नलिका भी उसी से बनी हैं।

(४) रोग के कारण- आयुर्वेद में रोग निदान तथा चिकित्सा का आधार त्रिदोष सिद्धांत है।

वात, पित्त और कफ जब संतुलित रहते हैं तो शरीर स्वस्थ रहता है। जब असंतुलित होते हैं तो रोग का कारण बनते हैं।

यह त्रिदोष समग्र शरीर में व्याप्त रहते हैं तथापि शरीर में कुछ विशेष स्थान पर ये ज्यादा रहते हैं। क्रिया के आधार पर प्रत्येक दोष के पांच भाग किए गये हैं और उनका परिणाम भी बताया गया है।

जैसे-वात - यह पांच प्रकार के कार्य करता है-

(१) प्राण - मुख्यत: श्वासोच्छ्वास प्रवर्तक (२) उदान-मुख्यत: वाक्प्रवर्तक (३) व्यान- शरीर रसों का वाहक (४) समान-अन्नपाचन आदि (५) अपान-मल मूत्रादि विसर्जन

पित्त :- इसके भी पांच कार्य हैं-

(१) पाचक- अन्न पाचन, सार का विभाजन तथा शरीर उष्णता, (२) रंजक- अन्न रस का रक्त वर्ण कर रक्त के रूप में परिणत करने वाले (३) साधक-बुद्धि और मेधावर्धक, (४) आलोचक- दृष्टि में सहायक, (५) भ्राजक-वर्ण प्रसाधनकर्ता

कफ:- इसके भी पांच कार्य हैं-

(१) अवलम्बक-शक्ति और ऊर्जा प्रदाता, (२) क्लेदक- अन्न क्लेदन कर्ता, (३) बोधक-रुचि का बोध कराने वाला, (४) तर्पक-नेत्र और ज्ञानेद्रियों का नियंत्रक, (५) श्लेषक-सन्धि स्नेहन कर्ता।

रोग निवृत्ति हेतु दी जाने वाली वस्तु, वह चाहे प्राणी जन्य हो, वनस्पति हो या खनिज जन्य हो, सबसे रस गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव-ये पांच तत्व माने गए हैं और इनमें से प्रत्येक का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। अन्न के शरीर में पाचन तथा विलयन कर रस बनता है जो आगे चलकर रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र आदि सप्त धातुओं में परिवर्तित होता है। प्रत्येक धातु का शरीर में विलय या विसर्जन तीन रूप में होता है-स्थूल, सूक्ष्म और मल। इससे शरीर

धीरे-धीरे विकसित होता है।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन चरक संहिता और सुश्रुत संहिता में मिलता है।

आयुर्वेद चिकित्सा दो प्रकार से की जाती थी-

(अ) शोधन-पंचकर्म द्वारा, ये निम्न हैं-

(वमन)- मुंह से उल्टी करके दोष दूर करना, (२) विरेचन-मुख्यत: गुदा मार्ग से दोष निकालना, बस्ति (एनीमा)

(४) रक्तमोक्षण-जहरीली कोई चीज काटने पर या शरीर में खराब रक्त कहीं हो, तो उसे निकालना।

(५) नस्य- नाक द्वारा स्निग्ध चीज देना

(ब) शमन- औषधि द्वारा चिकित्सा, इसकी परिधि बहुत व्याप्त थी। आठ प्रकार की चिकित्साएं बताई हैं।

स्वास्थ्य विज्ञान -२ : सर्जरी के सर्जक हम ही हैं!

लेखक - सुरेश सोनी

आयुर्वेद चिकित्सा दो प्रकार से की जाती थी-

(अ) शोधन-पंचकर्म द्वारा, ये निम्न हैं-

(१) वमन- मुंह से उल्टी करके दोष दूर करना, (२) विरेचन-मुख्यत: गुदा मार्ग से दोष निकालना, (३) बस्ति (एनीमा) (४) रक्तमोक्षण-जहरीली चीज काटने पर या शरीर में खराब रक्त कहीं हो, तो उसे निकालना। (५) नस्य- नाक द्वारा स्निग्ध चीज देना

(ब) शमन- औषधि द्वारा चिकित्सा, इसकी परिधि बहुत व्याप्त थी। आठ प्रकार की चिकित्साएं बताई गई हैं।

(१) काय चिकित्सा-सामान्य चिकित्सा

(२) कौमार भृत्यम्-बालरोग चिकित्सा

(३) भूत विद्या- मनोरोग चिकित्सा

(४) शालाक्य तंत्र- उध्र्वांग अर्थात् नाक, कान, गला आदि की चिकित्सा

(५) शल्य तंत्र-शल्य चिकित्सा

(६) अगद तंत्र-विष चिकित्सा

(७) रसायन-रसायन चिकित्सा

(८) बाजीकरण-पुरुषत्व वर्धन

औषधियां:- चरक ने कहा, जो जहां रहता है, उसी के आसपास प्रकृति ने रोगों की औषधियां दे रखी हैं। अत: वे अपने आसपास के पौधों, वनस्पतियों का निरीक्षण व प्रयोग करने का आग्रह करते थे। एक समय विश्व के अनेक आचार्य एकत्रित हुए, विचार-विमर्श हुआ और उसकी फलश्रुति आगे चलकर 'चरक संहिता' के रूप में सामने आई। इस संहिता में औषधि की दृष्टि से ३४१ वनस्पतिजन्य, १७७ प्राणिजन्य, ६४ खनिज द्रव्यों का उल्लेख है। इसी प्रकार सुश्रुत संहिता में ३८५ वनस्पतिजन्य, ५७ प्राणिजन्य तथा ६४ खनिज द्रव्यों से औषधीय प्रयोग व विधियों का वर्णन है। इनसे चूर्ण, आसव, काढ़ा, अवलेह आदि अनेक में रूपों औषधियां तैयार होती थीं।

इससे पूर्वकाल में भी ग्रंथों में कुछ अद्भुत औषधियों का वर्णन मिलता है। जैसे बाल्मीकी रामायण में राम-रावण युद्ध के समय जब लक्ष्मण पर प्राणांतक आघात हुआ और वे मूर्छित हो गए, उस समय इलाज हेतु जामवन्त ने हनुमान जी के पास हिमालय में प्राप्त होने वाली चार दुर्लभ औषधियों का वर्णन किया।

मृत संजीवनी चैव विशल्यकरणीमपि।
सुवर्णकरणीं चैव सन्धानी च महौषधीम्॥
युद्धकाण्ड ७४-३३

(१) विशल्यकरणी-शरीर में घुसे अस्त्र निकालने वाली

(२) सन्धानी- घाव भरने वाली

(३) सुवर्णकरणी-त्वचा का रंग ठीक रखने वाली

(४) मृतसंजीवनी-पुनर्जीवन देने वाली

चरक के बाद बौद्धकाल में नागार्जुन, वाग्भट्ट आदि अनेक लोगों के प्रयत्न से रस शास्त्र विकसित हुआ। इसमें पारे को शुद्ध कर उसका औषधीय उपयोग अत्यंत परिणामकारक रहा। इसके अतिरिक्त धातुओं, यथा-लौह, ताम्र, स्वर्ण, रजत, जस्त को विविध रसों में डालना और गरम करना-इस प्रक्रिया से उन्हें भस्म में परिवर्तित करने की विद्या विकसित हुई। यह

भस्म और पादपजन्य औषधियां भी रोग निदान में काम आती हैं।

शल्य चिकित्सा- कुछ वर्षों पूर्व इंग्लैण्ड के शल्य चिकित्सकों के विश्व प्रसिद्ध संगठन ने एक कैलेण्डर निकाला, उसमें विश्व के अब तक के श्रेष्ठ शल्य चिकित्सकों (सर्जन) के चित्र दिए गए थे। उसमें पहला चित्र आचार्य सुश्रुत का था तथा उन्हें विश्व का पहला शल्य चिकित्सक बताया गया था।

वैसे भारतीय परम्परा में शल्य चिकित्सा का इतिहास बहुत प्राचीन है। भारतीय चिकित्सा के देवता धन्वंतरि को शल्य क्रिया का भी जनक माना जाता है। प्राचीनकाल में इस क्षेत्र में हमारे देश के चिकित्सकों ने अच्छी प्रगति की थी। अनेक ग्रंथ रचे गए। ऐसे ग्रंथों के रचनाकारों में सुश्रुत, पुष्कलावत, गोपरक्षित, भोज, विदेह, निमि, कंकायन, गार्ग्य, गालव, जीवक, पर्वतक, हिरण्याक्ष, कश्यप आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन रचनाकारों के अलावा अनेक प्राचीन ग्रंथों से इस क्षेत्र में भारतीयों की प्रगति का ज्ञान होता है।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में दिल, पेट तथा वृक्कों के विकारों का विवरण है। इसी तरह शरीर में नवद्वारों तथा दस छिद्रों का विवरण दिया गया है। वैदिक काल के शल्य चिकित्सक मस्तिष्क की शल्य क्रिया में निपुण थे। ऋग्वेद (८-८६-२) के अनुसार जब विमना और विश्वक ऋषि उद्भ्रान्त हो गए थे, तब शल्य क्रिया द्वारा उनका रोग दूर किया गया। इसी ग्रंथ में नार्षद ऋषि का भी विवरण है। जब वे पूर्ण रूप से बधिर हो गए तब अश्विनी कुमारों ने उपचार करके उनकी श्रवण शक्ति वापस लौटा दी थी। नेत्र जैसे कोमल अंग की चिकित्सा तत्कालीन चिकित्सक कुशलता से कर लेते थे। ऋग्वेद (१-११६-११) में शल्य क्रिया द्वारा वन्दन ऋषि की ज्योति वापस लाने का उल्लेख मिलता है।

शल्य क्रिया के क्षेत्र में बौद्ध काल में भी तीव्र गति से प्रगति हुई। 'विनय पिटक' के अनुसार राजगृह के एक श्रेष्ठी के सर में कीड़े पड़ गए थे। तब वैद्यराज जीवक ने शल्य क्रिया से न केवल वे कीड़े निकाले बल्कि इससे बने घावों को ठीक करने के लिए उन पर औषधि का लेप किया था। हमारे पुराणों में भी शल्य क्रिया के बारे में पर्याप्त जानकारी दी गई। 'शिव पुराण' के अनुसार जब शिव जी ने दक्ष का सर काट दिया था तब अश्विनी कुमारों ने उनको नया सर लगाया था। इसी तरह गणेश जी का मस्तक कट जाने पर उनके धड़ पर हाथी का सर जोड़ा गया था। 'रामायण' तथा 'महाभारत' में भी ऐसे कुछ उदाहरण मिलते हैं। 'रामायण' में एक स्थान पर कहा है कि 'याजमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ।' अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर एक मनुष्य की आंख निकालकर दूसरे को लगा दी जाती थी। (बा.रा.-२-१६-५) 'महाभारत' के सभा पर्व में युधिष्ठिर व नारद के संवाद से शल्य चिकित्सा के ८ अंगों का परिचय मिलता है।

वैद्य सबल सिंह भाटी कहते हैं कि सुश्रुत संहिता में शल्य चिकित्सा का प्रशिक्षण गुरुशिष्य परम्परा के माध्यम से दिया जाता था। मुर्दों तथा पुतलों का विच्छेदन करके व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता था। प्रशिक्षित शल्यज्ञ विभिन्न उपकरणों तथा अग्नि के माध्यम से तमाम क्रियाएं सम्पन्न करते थे। जरूरत पड़ने पर रोगी को खून भी चढ़ाया जाता था। इसके लिए तेज धार वाले उपकरण शिरावेध का उपयोग होता था।

आठ प्रकार की शल्य क्रियाएं- सुश्रुत द्वारा वर्णित शल्य क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं (१) छेद्य (छेदन हेतु) (२) भेद्य

(भेदन हेतु) (३) लेख्य (अलग करने हेतु) (४) वेध्य (शरीर में हानिकारक द्रव्य निकालने के लिए) (५) ऐष्य (नाड़ी में घाव ढूंढने के लिए) (६) अहार्य (हानिकारक उत्पत्तियों को निकालने के लिए) (७) विश्रव्य (द्रव निकालने के लिए) (८) सीव्य (घाव सिलने के लिए)

सुश्रुत संहिता में शस्त्र क्रियाओं के लिए आवश्यक यंत्रों (साधनों) तथा शस्त्रों (उपकरणों) का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। आजकल की शल्य क्रिया में 'फौरसेप्स' तथा 'संदस' यंत्र फौरसेप्स तथा टोंग से मिलते-जुलते हैं। सुश्रुत के महान ग्रन्थ में २४ प्रकार के स्वास्तिकों, २ प्रकार के संदसों, २८ प्रकार की शलाकाओं तथा २० प्रकार की नाड़ियों (नलिका) का उल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त शरीर के प्रत्येक अंग की शस्त्र-क्रिया के लिए बीस प्रकार के शस्त्रों (उपकरणों) का भी वर्णन किया गया है। पूर्व में जिन आठ प्रकार की शल्य क्रियाओं का संदर्भ आया है, वे विभिन्न साधनों व उपकरणों से की जाती थीं। उपकरणों (शस्त्रों) के नाम इस प्रकार हैं-

अर्द्धआधार, अतिमुख, अरा, बदिशा, दंत शंकु, एषणी, कर-पत्र, कृतारिका, कुथारिका, कुश-पात्र, मण्डलाग्र, मुद्रिका, नख शस्त्र, शरारिमुख, सूचि, त्रिकुर्चकर, उत्पल पत्र, वृध-पत्र, वृहिमुख तथा वेतस-पत्र।

आज से कम से कम तीन हजार वर्ष पूर्व सुश्रुत ने सर्वोत्कृष्ट इस्पात के उपकरण बनाये जाने की आवश्यकता बताई। आचार्य ने इस पर भी बल दिया है कि उपकरण तेज धार वाले हों तथा इतने पैने कि उनसे बाल को भी दो हिस्सों में काटा जा सके। शल्यक्रिया से पहले व बाद में वातावरण व उपकरणों की शुद्धता (रोग-प्रतिरोधी वातावरण) पर सुश्रुत ने इतना जोर दिया है तथा इसके लिए ऐसे साधनों का वर्णन किया है कि आज के शल्य चिकित्सक भी दंग रह जाएं। शल्य चिकित्सा (सर्जरी) से पहले रोगी को संज्ञा-शून्य करने (एनेस्थेशिया) की विधि व इसकी आवश्यकता भी बताई गई है। 'भोज प्रबंध' (९२७ ईस्वी) में बताया गया है कि राजा भोज को कपाल की शल्य-क्रिया के पूर्व 'सम्मोहिनी' नामक चूर्ण सुंघाकर अचेत किया गया था।

चौदह प्रकार की पट्टियां- इन उपकरणों के साथ ही आवश्यकता पड़ने पर बांस, स्फटिक तथा कुछ विशेष प्रकार के प्रस्तर खण्डों का उपयोग भी शल्य क्रिया में किया जाता था। शल्य क्रिया के मर्मज्ञ महर्षि सुश्रुत ने १४ प्रकार की पट्टियों का विवरण किया है। उन्होंने हड्डियों के खिसकने के छह प्रकारों तथा अस्थि-भंग के १२ प्रकारों की विवेचना की है। यही नहीं, उनके ग्रंथ में कान संबंधी बीमारियों के २८ प्रकार तथा नेत्र-रोगों के २६ प्रकार बताए गए हैं।

सुश्रुत संहिता में मनुष्य की आंतों में कर्कट रोग (कैंसर) के कारण उत्पन्न हानिकर तन्तुओं (टिश्युओं) को शल्य क्रिया से हटा देने का विवरण है। शल्यक्रिया द्वारा शिशु-जन्म (सीजेरियन) की विधियों का वर्णन किया गया है। 'न्यूरो-सर्जरी' अर्थात् रोग-मुक्ति के लिए नाड़ियों पर शल्य-क्रिया का उल्लेख है तथा आधुनिक काल की सर्वाधिक पेचीदी क्रिया 'प्लास्टिक सर्जरी' का सविस्तार वर्णन सुश्रुत के ग्रन्थ में है। आधुनिकतम विधियों का भी उल्लेख इसमें है। कई विधियां तो ऐसी भी हैं जिनके सम्बंध में आज का चिकित्सा शास्त्र भी अनभिज्ञ है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में शल्य क्रिया अत्यंत उन्नत अवस्था में थी, जबकि शेष विश्व इस विद्या से बिल्कुल अनभिज्ञ था।

ध्वनि तथा वाणी विज्ञान : सात सुरों का भारतीय संसार

लेखक - सुरेश सोनी

सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया नाद के साथ हुई। जब प्रथम महास्फोट (बिग बैंग) हुआ, तब आदि नाद उत्पन्न हुआ। उस मूल ध्वनि को जिसका प्रतीक 'ॐ' है, नादब्रह्म कहा जाता है। पांतजलि योगसूत्र में पातंजलि मुनि ने इसका वर्णन 'तस्य वाचक प्रणव:' की अभिव्यक्ति ॐ के रूप में है, ऐसा कहा है। माण्डूक्योपनिषद् में कहा है-

ओमित्येतदक्षरमिदम् सर्वं तस्योपव्याख्यानं
भूतं भवद्भविष्यदिपि सर्वमोङ्◌◌ंकार एवं
यच्यान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥
माण्डूक्योपनिषद्- १॥

अर्थात् ॐ अक्षर अविनाशी स्वरूप है। यह संम्पूर्ण जगत का ही उपव्याख्यान है। जो हो चुका है, जो है तथा जो होने वाला है, यह सबका सब जगत ओंकार ही है तथा जो ऊपर कहे हुए तीनों कालों से अतीत अन्य तत्व है, वह भी ओंकार ही है।

वाणी का स्वरूप

हमारे यहां वाणी विज्ञान का बहुत गहराई से विचार किया गया। ऋग्वेद में एक ऋचा आती है-

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण:
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
ऋग्वेद १-१६४-४५

अर्थात् वाणी के चार पाद होते हैं, जिन्हें विद्वान मनीषी जानते हैं। इनमें से तीन शरीर के अंदर होने से गुप्त हैं परन्तु चौथे को अनुभव कर सकते हैं। इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए पाणिनी कहते हैं, वाणी के चार पाद या रूप हैं-

१. परा, २. पश्यन्ती, ३. मध्यमा, ४. वैखरी

वाणी की उत्पत्ति

वाणी कहां से उत्पन्न होती है, इसकी गहराई में जाकर अनुभूति की गई है। इस आधार पर पाणिनी कहते हैं, आत्मा वह मूल आधार है जहां से ध्वनि उत्पन्न होती है। वह इसका पहला रूप है। यह अनुभूति का विषय है। किसी यंत्र के द्वारा

सुनाई नहीं देती। ध्वनि के इस रूप को परा कहा गया।

आगे जब आत्मा, बुद्धि तथा अर्थ की सहायता से मन: पटल पर कर्ता, कर्म या क्रिया का चित्र देखता है, वाणी का यह रूप पश्यन्ती कहलाता है, जिसे आजकल घ्त्ड़द्यदृद्धत्ड्ढथ् कहते हैं। हम जो कुछ बोलते हैं, पहले उसका चित्र हमारे मन में बनता है। इस कारण दूसरा चरण पश्यन्ती है।

इसके आगे मन व शरीर की ऊर्जा को प्रेरित कर न सुनाई देने वाला ध्वनि का बुद्बुद् उत्पन्न करता है। वह बुद्बुद् ऊपर उठता है तथा छाती से नि:श्वास की सहायता से कण्ठ तक आता है। वाणी के इस रूप को मध्यमा कहा जाता है। ये तीनों रूप सुनाई नहीं देते हैं। इसके आगे यह बुद्बुद् कंठ के ऊपर पांच स्पर्श स्थानों की सहायता से सर्वस्वर, व्यंजन, युग्माक्षर और मात्रा द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में वाणी के रूप में अभिव्यक्त होता है। यही सुनाई देने वाली वाणी वैखरी कहलाती है और इस वैखरी वाणी से ही सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान, जीवन व्यवहार तथा बोलचाल की अभिव्यक्ति संभव है।

वाणी की अभिव्यक्ति

यहां हम देखते हैं कि कितनी सूक्ष्मता से उन्होंने मुख से निकलने वाली वाणी का निरीक्षण किया तथा क से ज्ञ तक वर्ण किस अंग की सहायता से निकलते हैं, इसका उन्होंने जो विश्लेषण किया वह इतना विज्ञान सम्मत है कि उसके अतिरिक्त अन्य ढंग से आप वह ध्वनि निकाल ही नहीं सकते हैं।

क, ख, ग, घ, ङ- कंठव्य कहे गए, क्योंकि इनके उच्चारण के समय ध्वनि कंठ से निकलती है।

च, छ, ज, झ,ञ- तालव्य कहे गए, क्योंकि इनके उच्चारण के समय जीभ लालू से लगती है।

ट, ठ, ड, ढ , ण- मूर्धन्य कहे गए, क्योंकि इनका उच्चारण जीभ के मूर्धा से लगने पर ही सम्भव है।

त, थ, द, ध, न- दंतीय कहे गए, क्योंकि इनके उच्चारण के समय जीभ दांतों से लगती है।

प, फ, ब, भ, म,- ओष्ठ्य कहे गए, क्योंकि इनका उच्चारण ओठों के मिलने पर ही होता है।

स्वर विज्ञान

सभी वर्ण, संयुक्ताक्षर, मात्रा आदि के उच्चारण का मूल 'स्वर' हैं। अत: उसका भी गहराई से अध्ययन तथा अनुभव किया गया। इसके निष्कर्ष के रूप में प्रतिपादित किया गया कि स्वर तीन प्रकार के हैं।

उदात्त-उच्च स्वर
अनुदात्त-नीचे का स्वर
स्वरित- मध्यम स्वर

इनका और सूक्ष्म विश्लेषण किया गया, जो संगीत शास्त्र का आधार बना। संगीत शास्त्र में सात स्वर माने गए जिन्हें सा रे ग म प ध नि के प्रतीक चिन्हों से जाना जाता है। इन सात स्वरों का मूल तीन स्वरों में विभाजन किया गया।

उच्चैर्निषाद, गांधारौ नीचै ऋर्षभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेया:, षड्ज मध्यमपंचमा:॥

अर्थात् निषाद तथा गांधार (नि ग) स्वर उदात्त हैं। ऋषभ और धैवत (रे, ध) अनुदात्त। षड्ज, मध्यम और पंचम (सा, म, प) ये स्वरित हैं।

इन सातों स्वरों के विभिन्न प्रकार के समायोजन से विभिन्न रागों के रूप बने और उन रागों के गायन में उत्पन्न विभिन्न ध्वनि तरंगों का परिणाम मानव, पशु प्रकृति सब पर पड़ता है। इसका भी बहुत सूक्ष्म निरीक्षण हमारे यहां किया गया है।

विशिष्ट मंत्रों के विशिष्ट ढंग से उच्चारण से वायुमण्डल में विशेष प्रकार के कंपन उत्पन्न होते हैं, जिनका विशेष परिणाम होता है। यह मंत्रविज्ञान का आधार है। इसकी अनुभूति वेद मंत्रों के श्रवण या मंदिर के गुंबज के नीचे मंत्रपाठ के समय अनुभव में आती है।

हमारे यहां विभिन्न रागों के गायन व परिणाम के अनेक उल्लेख प्राचीनकाल से मिलते हैं। सुबह, शाम, हर्ष, शोक, उत्साह, करुणा-भिन्न-भिन्न प्रसंगों के भिन्न-भिन्न राग हैं। दीपक से दीपक जलना और मेघ मल्हार से वर्षा होना आदि उल्लेख मिलते हैं। वर्तमान में भी कुछ उदाहरण मिलते हैं।

कुछ अनुभव
(१) प्रसिद्ध संगीतज्ञ पं. ओंकार नाथ ठाकुर १९३३ में फ्लोरेन्स (इटली) में आयोजित अखिल विश्व संगीत सम्मेलन में भाग लेने गए। उस समय मुसोलिनी वहां का तानाशाह था। उस प्रवास में मुसोलिनी से मुलाकात के समय पंडित जी ने भारतीय रागों के महत्व के बारे में बताया। इस पर मुसोलिनी ने कहा, मुझे कुछ दिनों से नींद नहीं आ रही है। यदि आपके संगीत में कुछ विशेषता हो, तो बताइये। इस पर पं. ओंकार नाथ ठाकुर ने तानपूरा लिया और राग 'पूरिया' (कोमल धैवत का) गाने लगे। कुछ समय के अंदर मुसोलिनी को प्रगाढ़ निद्रा आ गई। बाद में उसने भारतीय संगीत की भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा रॉयल एकेडमी ऑफ म्यूजिक के प्राचार्य को पंडित जी के संगीत के स्वर एवं लिपि को रिकार्ड करने का आदेश दिया।

२. आजकल पाश्चात्य जीवन मूल्य, आचार तथा व्यवहार का प्रभाव पड़ने के साथ युवा पीढ़ी में पाश्चात्य पॉप म्यूजिक का भी आकर्षण बढ़ रहा है। पॉप म्यूजिक आन्तरिक व्यक्तित्व को कुंठित और निम्न भावनाओं को बढ़ाने का कारण बनता है, जबकि भारतीय संगीत जीवन में संतुलन तथा उदात्त भावनाओं को विकसित करने का माध्यम है। इसे निम्न अनुभव प्रयोग स्पष्ट कर सकते हैं।

पांडिचेरी स्थित श्री अरविंद आश्रम में श्रीमां ने एक प्रयोग किया। एक मैदान में दो स्थानों पर एक ही प्रकार के बीज बोये गये तथा उनमें से एक के आगे पॉप म्यूजिक बजाया गया तथा दूसरे के आगे भारतीय संगीत। समय के साथ अंकुर फूटा और पौधा बढ़ने लगा। परन्तु आश्चर्य यह था कि जहां पॉप म्यूजिक बजता था, वह पौधा असंतुलित तथा उसके पत्ते कटे-फटे थे। जहां भारतीय संगीत बजता था, वह पौधा संतुलित तथा उसके पत्ते पूर्ण आकार के और विकसित थे। यह देखकर श्रीमां ने कहा, दोनों संगीतों का प्रभाव मानव के आन्तरिक व्यक्तित्व पर भी उसी प्रकार पड़ता है जिस प्रकार इन पौधों पर पड़ा दिखाई देता है।

(३) हम लोग संगीत सुनते हैं तो एक बात का सूक्ष्मता से निरीक्षण करें, इससे पाश्चात्य तथा भारतीय संगीत की प्रकृति तथा परिणाम का सूक्ष्मता से ज्ञान हो सकता है। जब कभी किसी संगीत सभा में पं. भीमसेन जोशी, पं. जसराज या अन्य किसी का गायन होता है और उस शास्त्रीय गायन में जब श्रोता उससे एकाकार हो जाते हैं तो उनका मन उसमें मस्त हो जाता है, तब प्राप्त आनन्द की अनुभूति में वे सिर हिलाते हैं। दूसरी ओर जब पाश्चात्य संगीत बजता है, कोई माइकेल जैक्सन, मैडोना का चीखते-चिल्लाते स्वरों के आरोह-अवरोह चालू होते हैं तो उसके साथ ही श्रोता के पैर थिरकने लगते हैं। अत: ध्यान में आता है कि भारतीय संगीत मानव की नाभि के ऊपर की भावनाएं विकसित करता है और पाश्चात्य पॉप म्यूजिक नाभि के नीचे की भावनाएं बढ़ाता है जो मानव के आन्तरिक व्यक्तित्व को विखंडित कर देता है।

ध्वनि कम्पन (च्दृद्वदड्ड ज्त्डद्धठ्ठद्यत्दृद) किसी घंटी पर प्रहार करते हैं तो उसकी ध्वनि देर तक सुनाई देती है। इसकी प्रक्रिया क्या है? इसकी व्याख्या में वात्स्यायन तथा उद्योतकर कहते हैं कि आघात में कुछ ध्वनि परमाणु अपनी जगह छोड़कर और संस्कार जिसे कम्प संतान-संस्कार कहते हैं, से एक प्रकार का कम्पन पैदा होता है और वायु के सहारे वह आगे बढ़ता है तथा मन्द तथा मन्दतर इस रूप में अविच्छिन्न रूप से सुनाई देता है। इसकी उत्पत्ति का कारण स्पन्दन है।

प्रतिध्वनि : विज्ञान भिक्षु अपने प्रवचन भाष्य अध्याय १ सूत्र ७ में कहते हैं कि प्रतिध्वनि (कड़ण्दृ) क्या है? इसकी व्याख्या में कहा गया कि जैसे पानी या दर्पण में चित्र दिखता है, वह प्रतिबिम्ब है। इसी प्रकार ध्वनि टकराकर पुन: सुनाई देती है, वह प्रतिध्वनि है। जैसे जल या दर्पण का बिम्ब वास्तविक चित्र नहीं है, उसी प्रकार प्रतिध्वनि भी वास्तविक ध्वनि नहीं है।

रूपवत्त्वं च न सामान्य त: प्रतिबिम्ब प्रयोजकं
शब्दास्यापि प्रतिध्वनि रूप प्रतिबिम्ब दर्शनात्॥
विज्ञान भिक्षु, प्रवचन भाष्य अ. १ सूत्र-४७

घ्त्ड़ण् क्ष्दद्यड्ढदद्मत्द्यन्न ठ्ठदड्ड च्त्थ्र्डद्धड्ढ-वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'शब्दस्य असाधारण धर्म:'- शब्द के अनेक असाधारण गुण होते हैं। गंगेश उपाध्याय जी ने 'तत्व चिंतामणि' में कहा- 'वायोरेव मन्दतर तमादिक्रमेण मन्दादि शब्दात्पत्ति।' वायु की सहायता से मन्द-तीव्र शब्द उत्पन्न होते हैं।

वाचस्पति, जैमिनी, उदयन आदि आचार्यों ने बहुत विस्तारपूर्वक अपने ग्रंथों में ध्वनि की उत्पत्ति, कम्पन, प्रतिध्वनि,

उसकी तीव्रता, मन्दता, उनके परिणाम आदि का हजारों वर्ष पूर्व किया जो विश्लेषण है, वह आज भी चमत्कृत करता है।

ध्वनि शास्त्र पर आधारित भारतीय लिपि

लेखक - सुरेश सोनी

१८वीं -१९वीं सदी के अनेक पाश्चात्य संशोधकों ने यह भ्रमपूर्ण धारणा फैलाने का प्रयत्न किया कि भारत के प्राचीन ऋषि लेखन कला से अनभिज्ञ थे तथा ईसा से ३००-४०० वर्ष पूर्व भारत में विकसित ब्राह्मी लिपि का मूल भारत से बाहर था। इस संदर्भ में डा. ओरफ्र्ीड व म्युएलर ने प्रतिपादित किया कि भारत को लेखन विद्या ग्रीकों से मिली। सर विलियम जोन्स ने कहा कि भारतीय ब्राह्मी लिपि सेमेटिक लिपि से उत्पन्न हुई। प्रो. बेवर ने यह तथ्य स्थापित करने का प्रयत्न किया कि ब्राह्मी का मूल फोनेशियन लिपि है। डा. डेव्हिड डिरिंजर ने अनुमान किया कि अरेमिक लिपि से ब्राह्मी उत्पन्न हुई। मैक्समूलर ने संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखते समय लिपि के विकास के संदर्भ में अपना यह मत प्रतिपादित किया कि लिखने की कला भारत में ईसा से ४०० वर्ष पूर्व अस्तित्व में आई। दुर्भाग्य से बाद के समय में भारतीय विद्वानों ने भी पाश्चात्य संशोधकों के स्वर में स्वर मिलाते हुए उन्हीं निष्कर्षों का प्रतिपादन किया। इस सारी प्रक्रिया में अपने देश की परम्परा व ग्रंथों में लिपि के विकास की गाथा जानने का विशेष प्रयत्न नहीं हुआ।

देखें कि वास्तविकता क्या है?

प्रसिद्ध पुरातत्ववेता और लिपि विशेषज्ञ अ.ब. वालावलकर तथा लिपिकार लक्ष्मण श्रीधर वाकणकर ने अपने संशोधन से यह सिद्ध किया कि भारतीय लिपि का उद्गम भारत में ही हुआ है तथा ध्वन्यात्मक आधार पर लेखन परम्परा वेद काल से विद्यमान थी, जिसकी पुष्टि अनेक पुरातत्वीय साक्ष्यों से भी होती है।

एक आदर्श ध्वन्यात्मक लेखन की बाधाओं का वर्णन एरिक गिल अपने टाइपोग्राफी (च्न्द्रदृढ़द्धठ्ठद्रण्न्र) पर लिखे निबंध में कहते हैं कि किसी समय कोई अक्षर किसी ध्वनि का पर्यायवाची रहा होगा, परन्तु रोमन लिपि के अध्ययन से अमुक अक्षर हमेशा व हर जगह अमुक ध्वनि का पर्याय है, यह तथ्य ध्यान में नहीं आता। उदाहरण के तौर पर दृद्वढ़ण्- ये चार अक्षर ७ भिन्न-भिन्न प्रकार व भिन्न-भिन्न ध्वनि से उच्चारित होते हैं- 'ओड, अफ, ऑफ, आऊ, औ, ऊ, ऑ'। यह लिखने के बाद अपने निष्कर्ष के रूप में गिल कहते हैं कि मेरा स्पष्ट विचार है, 'हमारे रोमन अक्षर ध्वनि का लेखन, मुद्रण ठीक प्रकार से करते हैं, यह कहना मूर्खतापूर्ण होगा।'

दूसरी ओर भारत में ध्वन्यात्मक लेखन परंपरा युगों से रही है। इसके कुछ प्रमाण हमारे प्राचीन वाङ्मय में प्राप्त होते हैं-

१. यजु तैत्तरीय संहिता में एक कथा आती है कि देवताओं के सामने एक समस्या थी कि वाणी बोली जाने के बाद अदृश्य हो जाती है। अत: इस निराकार वाणी को साकार कैसे करें? अत: वे इन्द्र के पास गए और कहा 'वाचंव्या कुर्वीत' अर्थात्

वाणी को आकार प्रदान करो। तब इन्द्र ने कहा मुझे वायु का सहयोग लेना पड़ेगा। देवताओं ने इसे मान्य किया और इन्द्र ने वाणी को आकार दिया। वाणी को आकार देना यानी लेखन विद्या। यही इन्द्र वायव्य व्याकरण के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रचलन दक्षिण भारत में अधिक हैं-

२. अथर्ववेद में गणक ऋषिकृत सूक्त गणपति अथर्वशीर्ष की निम्न पंक्तियां लेखन विद्या की उत्पत्ति का स्पष्ट प्रमाण देती हैं-

गणादिं पूर्वमुच्चार्य वर्णादिं तदनन्तरम्। अनुस्वार: परतर:। अर्धेन्दुलसितम्। तोरण रुद्धम्। एतत्तवमनुस्वरूपम्। गकार: पूर्वरूपम्। अकारो मध्यरूपम् अनुस्वारश्चान्त्यरूपम्। बिन्दुरुत्तररूपम। नाद: संधानम्। संहिता संधि:। सैषा गणेश विद्या।

अर्थात् पहले ध्वनि के गण का उच्चारण करना फिर उसी क्रम में वर्ण (रंग की सहायता से) बाद में लिखना तत्पश्चात् अक्षर पर अनुस्वार देना, वह अर्ध चंद्रयुक्त हो। इस प्रकार हे गणेश आपका स्वरूप, चित्र इस प्रकार होगा ग् यानी व्यंजन तथा बीच का स्वर का भाग यानी आकार रूपदंड तथा अंत मुक्त अनुस्वार। इसका नाद व संधिरूप उच्चारण करना यही गणेश विद्या है, जिसे गणपति जानते हैं।

३. ध्वनि सूत्रों को देने वाले भगवाने शिव थे। भिन्न-भिन्न वेद की शाखाएं बोलने वालों की मृत्यु के कारण लुप्त होने लगीं। अत: उसे बचाने की प्रार्थना लेकर सनकादि सिद्ध दक्षिण में चिदम्बरम् में भगवान शिव के पास गए। उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान शिव ने अपने स्वर्गिक नृत्य के अन्तराल में अपने डमरू को नौ और पांच अर्थात् चौदह बार बजाया। उसी से १४ ध्वनि सूत्र निकले, जो माहेश्वर सूत्र कहलाये। इसका वर्णन करते हुए कहा गया है-

नृत्तावसाने नटराजराजो
ननाद ढक्कां नवपंचवारम्।
उद्धर्तुकाम: सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्षे शिवसूत्रजालम्।
कौशिक सूत्र- १

चौदह माहेश्वर सूत्रों का उल्लेख पाणिनी निम्न प्रकार से करते हैं। (१) अ इ उ ण् (२) ऋ लृ क् (३) ए ओ ङ् (४) ऐ औ च् (५) ह य व र ट् (६) ल ण् (७) ञ म ङ ण न म् (८) झ भ ञ् (९) ध ठ घ ष् (१०) ज ब ग ड द श् (११) ख फ छ ठ थ च ट त य् (१२) क प य् (१३) श ष स र् (१४) ह ल्

४. वेदों के स्मरण व उनकी शुद्धता बनी रहे इस हेतु विभिन्न ऋषियों ने जटा, माला, शिखा, रेखा, दण्ड, रथ, ध्वज, तथा घन पाठ की जटिल पद्धतियां विकसित कीं, जो बिना लिखे सुरक्षित रखना कठिन था।

५. महाभारतकार व्यास मुनि जब महाभारत लिखने का विचार कर रहे थे तब उनके सामने समस्या थी कि इसे लिखे कौन, तब उन्होंने उसके समाधान हेतु गणेशजी का स्मरण किया- 'काव्यस्य लेखनार्थाय गणेशं स्मर्यताम् मुने'। जब गणेश

जी आए तो व्यास मुनि ने उनसे कहा 'लेखको भारतस्यास्य भव गणनायक:, अर्थात् 'आप भारत ग्रंथ के लेखक बनें।' इसका अर्थ है गणपति उस समय के मूर्धन्य लिपिकार थे।

पाणिनी ने ऋग्वेद् शिक्षा में विवेचन किया है कि वाणी अपने चार पदों में से चौथे पद वैखरी में आती है, तब मनुष्य के शरीर के पंच अंग के सहारे ध्वनि उत्पन्न होती है। इस आधार पर स्वर व व्यजंनों का सम्बंध जिस अंग में आता है उसका वर्गीकरण निम्न प्रकार है-

१. कंठ्य-श्वास कंठ से निकलता है तब तो ध्वनि निकलती है उसके अन्तर्गत निम्न अक्षर आते हैं- अ,आ, क, ख, ग, घ, ङ, ह और विसर्ग।

२. तालव्य- कंठ से थोड़ा ऊपर दांतों के निकट कठोर तालु पर से जब श्वास निकलती है तो वह ध्वनि इ,ई,च,छ,ज,झ,ञ,य और श के द्वारा अभिव्यक्त होती है।

३. मूर्धन्य-जीभ थोड़ी पीछे लेकर कोमल तालु में लगाकर ध्वनि निकालने पर वह निम्न अक्षरों में व्यक्त होती है- ऋ,ट,ठ.ड,द,ण,ष।

४. दंत्य-जीभ दांतों से लगती है तब जिन अक्षरों का उच्चारण होता है वह हैं लृ,ल,त,थ,द,ध,न,स।

५. ओष्ठ्य-दोनों ओठों के सहारे जिन अक्षरों का उच्चारण होता है वह हैं- उ,ऊ,प,फ,ब,भ, म, और व।

इनके अतिरिक्त ए,ऐ,ओ,औ,अं,अ: यह मिश्रित स्वर हैं।

उपर्युक्त ध्वनि शास्त्र के आधार पर लिपि विकसित हुई और काल के प्रवाह में लिपियां बदलती रहीं, पर उनका आधार ध्वनि शास्त्र का मूलभूत सिद्धान्त ही रहा। प्रख्यात पुरातत्वविद् वालावलकर जी ने प्राचीन मुद्राओं में प्राप्त लिपियों का अध्ययन कर प्रमाणित किया कि मूल रूप में माहेश्वरी लिपि थी जो वैदिक लिपि रही। इसी से आगे चलकर ब्राह्मी तथा नागरी आदि लिपियां विकसित हुएं। प्रख्यात लिपिकार वाकणकर द्वारा निर्मित तालिका में हम इसे देख सकते हैं।

पुरातत्वीय प्रमाण

लिपि के विकास एवं पुरातत्वीय प्रमाणों पर आधारित वालावलकर एवं वाकणकर के संशोधनों एवं प्रतिपादनों का उल्लेख करते हुए डा. मुरली मनोहर जोशी ने अपने लेख 'लिपि विधाता गणेश' में जो विचार व्यक्त किए हैं वे यह सिद्ध करते हैं कि प्राचीन काल से लिपि की कला का भारत में अस्तित्व था और वह पूर्णतया ध्वनि शास्त्र पर आधारित था, जो विश्व की अन्य लिपियों में नहीं दिखाई देता है। डा. जोशी के शब्दों में-

'ब्रिटिश म्यूजियम में एक सील (क्र. ३१-११-३६६/१०६७-४७३६७-१८८१) रखी है जिसकी अनुकृति नीचे चित्र में प्रदर्शित है। ईसापूर्व छठी शताब्दी की इस सील में बेबीलोनी कीलाक्षर लिपि एवं ब्राह्मी लिपि दोनों एक साथ विद्यमान हैं। कीलाक्षरों को तो १९३६ में ही पढ़ लिया गया था किन्तु बीच की एक पंक्ति को कोई अज्ञात लिपि मानकर यों ही छोड़

दिया गया था। पुरालेखविद् वालावलकर ने ही इस अज्ञात लिपि को पढ़कर यूरोपीय विद्वानों की मान्यता कि भारत ने लिपि कहीं बाहर से उधार ली, झुठला दी। उनके अनुसार यह सील अशोक पूर्व माहेश्वरी लिपि में लिखी संस्कृत का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। इस पंक्ति का पाठ है- 'अवखेज्ञराख नु औहर्मनुभ्य: ददतु' जो कीलाक्षरों में लिखे अनुबंध की संस्कृत में की गयी संपुष्टि है-इस साक्ष्य से मैक्डोनल एवं ब्यूहलर की स्थापनाएं कि भारत ने ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी में लिपि बाहर से उधार ली थी, निस्सार सिद्ध हो जाती है। इसी तरह एक अन्य महत्वपूर्ण साक्ष्य है पेरिस के लूव्रे म्यूजियम में ईसा पूर्व (३०००-२४००) की एक पेलेस्टाइन में उत्खनन के समय सार्गन राजा के यहां से उपलब्ध हुई सील है। इस सील चित्र को देखकर जॉन मार्शल ने कहा था कि इस सील के पुरातत्वीय परिणाम बेहद चौंकाने वाले हैं। इस सील के सिंधु घाटी सील के साथ साम्य ने यूरोपीय विद्वानों की भारतीय लिपि के बाहरी उद्गम सम्बंधी स्थापनाओं पर अनेक प्रश्नचिन्ह लगा दिए। अब कम-से-कम हमारे मनीषियों द्वारा लिपि बाहर से उधार लेने का शोर मचाया जाना तो मंद पड़ ही गया है। लेकिन भारतीय लिपि की प्राचीनता सम्बंधी प्रश्नों पर अभी भी अंग्रेजीदां प्राच्यविद् चुप्पी लगाए हैं।'

वैदिक ओंकार

'इसी क्रम में छठी शताब्दी ईसा पूर्व के सोहगरा ताम्र अभिलेख (चित्र-४) पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। इसकी प्रथम पंक्ति में वही चित्र बना हुआ है जिसे वालावलकर की तालिका में वैदिक ओंकार बताया गया है। चित्र-५,६ व ७ को भी देखिए। ये सब सिक्कों के चित्र हैं, जिनमें वैदिक ओंकार तथा स्वास्तिक जैसे आध्यात्मिक प्रतीक अंकित हैं। प्रश्न यह है कि वैदिक ओंकार की आकृति ऐसी क्यों मान ली जाए। ज्ञानेश्वरी में ओंकार रचना का वर्णन करते हुए लिखा है-

अ- कार चरणयुगल। उ-कार उदर विशाल।
म-कार महामंडल। मस्तका-कारे॥११॥
हे तिन्ही एकवटले। तेच शब्दब्रह्म कवत्तल।
ते मियां गुरुकृपा नमिले। आदि बीज ॥२०॥

'शब्द ब्रह्म या एकाक्षर ब्रह्म, प्रण की आकृति का ज्ञानेश्वरी में किया गया वर्णन महत्व का है। वर्तमान देवनागरी में लिखे जाने वाले ॐ से इस वर्णन का मेल स्पष्ट नहीं होता। किन्तु वालावलकर के वैदिक ओंकार से अवश्य इसका साम्य है। यदि माहेश्वरी सूत्रों के अर्धेंदु सिद्धांत पर गौर किया जाए तो यह गुत्थी सुलझ जाती है। दाएं चित्र देखिए-सबसे नीचे दो अर्धेंदु हैं जो 'अ' के प्रतीक हैं; उसके ऊपर फिर एक अर्धेंदु खण्ड है जो 'उ' को व्यक्त करता है, सबसे ऊपर एक वृत्त एवं अर्धेंदु बिंदु है जो 'म' को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार ज्ञानेश्वरी का ओंकार, गीता एवं उपनिषदों का एकाक्षर ब्रह्म या प्रणव जो भी कहिए; वह माहेश्वरी सूत्रों के अर्धेंदु सिद्धांत के अनुसार निश्चित आकारों को, जो निश्चित ध्वनियों के प्रतीक हैं, जिन्हें क्रमानुसार जोड़ने से बनी एक निश्चित आकृति है। देवनागरी के ॐ में भी यही सिद्धांत परिलक्षित होता है। यदि वैदिक ओंकार को ऊपर चित्र की भांति नब्बे अंश से घड़ी की सुई की दिशा में घुमा दें, देवनागरी आकृति से अदभुत साम्य हो जाता है। एक दृष्टि से वैदिक ओंकार के देवनागरी ॐ में रूपांतरण तक की यात्रा भारतीय लिपि के विकास की कहानी है। इसे ऋग्वेद से लेकर पद्मपुराण तक खोजा जा सकता है।

प्राचीन भारत में वर्ण-मापन-विज्ञान (स्पेक्ट्रोस्कोपी) - १

इस सिंहावलोकनात्मक प्राक्कथन आलेख में हम प्राचीन वर्ण-क्रम-मापन विज्ञान के नीचे दिये गये बिन्दुओं पर आज के परिप्रेक्ष्य में उनकी महत्ता एवं उपादेयता का विवेचन करेंगे :

(क) उस काल में 'वर्णक्रम मापक' जैसे जटिल (Sophisticated) यंत्र रहे हैं।

(ख) उनका उपयोग सूर्य के प्रकाश में अवस्थित वर्णों के विक्षेपण (dispersion) मापन में तथा 'ज्योतिष-भौतिकी' (Astrophysics) में जिस प्रकार आज नक्षत्रों (stars) का वार्णिक वर्गीकरण (spectral classification) करते हैं, उसी रूप में करते रहे हैं।

(ग)यंत्र में प्रयुक्त होने वाले मणियों एवं गवाक्षों (lenses: prisms and windows) के निमित्त उपयुक्त लौहों (materials) को बनाने की विधियों एवं गुणों को भी जानते रहे हैं।

'प्राच्य संस्थान, बड़ोदरा' (Oriental Institute, Varodara), बड़ोदा के पुस्तकालय में बोधानन्द की व्याख्या से युक्त महर्षि भरद्वाज द्वारा प्रणीत 'अंशुबोधिनी' 1 की प्राप्त पांडुलिपि (manuscript) के 'विषय वस्तु' (Text) में 'घ्वान्त-प्रमापकन्यंत्र के नाम से संबोधित 'वर्णक्रम मापक' (Spectrometer / monochromator) का वर्णन है। तदुपरांत सूर्य के प्रकाश का मणि (prism) द्वारा विक्षेपित (dispersed) विभिन्न तम-किरणों (rays of various radiation) के विभिन्न 'सांकतों' (symbols) के संगत प्राचीन कोण की इकाई कक्ष्य (१ कक्ष्य = १०.४ रेडियन) में अभिव्यक्त कोण परिमाणों (सांकेत संख्या) को क्रम से गिनाते हुए वर्णित किया गया है।

प्रस्तुत समस्या के समाधान हेतु संभवत: भौतिकी के सिद्धांताधीन गणना से उपर्युक्त आँकड़े पुनरुत्पादित करने में हम समर्थ रहे हैं, जिस कारण निम्नांकित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

(१) वर्णक्रम मापी की विशिष्ट रूप से ऊर्ध्वाधर रचना अंतरिक्ष से आगत ध्वांत /तम (radiation) को ग्रहण कर सकने की आवश्यकता के अनुकूल है।

(२) भौतिकी सिद्धान्त की सहायता से आँकड़ों (data) के पुनरुत्पादित करने के लिये प्रस्तुत परिस्थिति में एक लिंट कांच (Flint glass) का ३०° आधार कोण वाला शंक्वाकार मणि (prism) जिसकी समतल सतह अंतरिक्ष से आपतित समानान्तर कृत (collimated) ध्वान्त किरणों के लम्बवत् हो। यह मणि संयोजन (prism setting) सभी तरंग दैर्ध्यवाली रश्मियों के लिये एक-कालिक (simultaniously) न्यूनतम विचलन (minimum deviation) किंवा सार्वत्रिक (universal) संयोजन के तुल्य है, जिसे प्रयुक्त किया है जो कि सर्वथा आधुनिकविज्ञान के लिये नये प्रकार का संयोजन विधान है।

(३) सूर्य प्रकाश के लगभग पूरे दृश्य परास (visible rang) में प्रसरित A से K तक की फ्राँउनहॉफर रेखाओं (Fraunhoffer lines) के तरंग दैर्ध्य एवं संगत 'कक्षा' इकाई में प्रदत्त 'संकेत संख्या' भली तरह से मेल खाती है।

(४) संकतों' (symbols) की क्रमवार सूची, नक्षत्रों के आधुनिक 'वार्णिक वर्गीकरण' (spectroscopic classification) के समानान्तर ही परिलक्षित होती है।

इस अध्ययन क्रम से न केवल प्राचीन काल में 'वर्णक्रम मापन विज्ञान' (spectyroscopy) के अस्तित्व का ज्ञान होता है

अपितु आधुनिक विज्ञान के ज्ञान की अभिवृद्धि में निमांकित बिन्दुओं पर योगदान प्राप्त हो सकता है।

आधुनिक भौतिकी में योगदान -

i. शंक्वाकार मणि (conical prism) से सभी तरंग दैर्ध्य की रश्मियों (rays of all wave lengths) को एक साथ न्यूनतम विचलन (minimum deviation) की स्थिति में समंजित किया जा सकता है।

ii. प्राचीन आँकड़ों के पुनरुत्पादित करने हेतु गणित के द्वारा विचलन एवं तरंग दैर्ध्य के मध्य एक सरल सूत्र प्राप्त हुवा है जिससे सीधे ही ज्ञात विचलन के आधार पर तरंग दैर्ध्य की गणना की जा सकती है।

iii. अवरक्त किरणों (Infrared rays) के लिये एक पारदर्शी विशिष्ट कांच "प्रकाश स्तंभनाभिद लौह" की खोज हुयी है जो कि पूर्णरूप से आद्रता से अप्रभावी है। आधुनिक विज्ञान में अभी तक ज्ञात नहीं है। यह कांच ईस्वी सन् १९९८ में राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला, जमशेदपुर में निर्मित की जा चुकी है।

वर्णक्रम मापक /'ध्वान्त प्रमापक यंत्र' (Spectrometer) 2

प्राच्य संस्थान, बडोदरा (Oriental Institute, Vadodara) के पुस्तकालय से बोधानन्द की टीका के साथ 'अंशुबोधिनी' शीर्षक की महर्षि भरद्वाज रचित एक पांडुलिपि प्राप्त हुयी है। वास्तव में प्राप्त पांडुलिपि भरद्वाज के १२ अध्याय वाले ग्रंथ में से केवल पहला अध्याय है। जिसका शीर्षक "सृष्ट्याधिकार" (Evolution of Universe) है जिसमें महाविस्फोट (Big-bang) से अपने सौर मंडल के सूर्य की उत्पत्ति तक का वर्णन किया गया है, जिसमें उपर्युक्त यंत्र जो कि संभवत: उस समय प्रचलित पाँच प्रकार के वर्णक्रम मापक यंत्रों में से एक है जिसे "तम" व्यापक अर्थ में (radiation) के तीन प्रकाशकीय परास (Optical region) अर्थात् अंधतम/पराबैंगनी, गूढ़तम/दृश्य एवं तम (ultraviolet, visible and infrared regions) के मापन में प्रयुक्त होता रहा है।

चितिचैत्यस्पन्दनेन सृष्टयाद्यतेकमेवहि।
तम: प्रादुरभूद्वेगात्तम स्पृष्टवैवकेवलम्।।
तमेवमूलप्रकृतिरित्यार्हुज्ञानवित्तमा:।
तम आसीदितिप्राहतमेवहिसनातनी।।
पश्चात्तस्मिन्चितप्रकाशस्स्वभावात्प्रतिबिंबित :।
तत्सानिध्यबलातन्मूलप्रकृत्यामतिवेगत:।।
अन्धंतमोगूढंतमस्तमश्चेतियथाक्रमम्।
तमांसित्रीण्यजायन्तचित्प्रभामिश्रितानिहि।।
त्रिगुणाइतितान्येवप्रवदन्तिमनीषिण:।
सत्वंरजस्तमइतिगुणा: प्रकृतिसंभव:।।
पृष्ठ ८५, अंशुबोधिनी

अर्थात् तम/विकीरण (radiation) के लिये ध्वान्त कारण (instrumental reason) है। व्यापक अर्थ में तम आवरण (संभवत: positron) 'कंचुक-आवरण' (electron) की चित् (दनबसमंत बवतम) की उपस्थिति के कारण अत्यंत वेग (force) से भ्रमण करने लगती है, जिससे तीन प्रकार के 'तम व कंचुक-आवरण के मिश्रण से त्रिगुण (तम, सत्त्व, रज)

उत्पन्न होते हैं। जिन्हें हम क्रमश: अंधतम, गूढ़तम एवं तम (Ultraviolet, Visible, infrared) कहते हैं।

तेषुशारिकनाथोक्तध्वान्तविज्ञानभास्करे।
तमप्रमापकविधौसन्ति शास्त्राणिपंचधा।।
तदेवात्रसमासेनयथाशास्त्रंनिरूप्यते।
तमप्रमापकविधिर्यथोक्तंस्वानुभूतित:।।
ध्वान्तप्रमापकंयन्त्रंनवोत्तरशतात्मकम्।

शारिकानाथ: -
उक्तंहियन्त्रसर्वस्वेभरद्वाजेनधीमता।
द्वात्रिंशदंगसंयुक्तंतमोभेदप्रदर्शकम्।।
तस्मादत्रसमासेन तदंगंप्रविविच्यते।
तस्यत्रयोदशांगेनप्रमातुंतमसोभवेत्।।

शारिकनाथ के "ध्वान्त विज्ञान भास्कर" नामक ग्रन्थ में उल्लेख है कि भरद्वाज के ग्रंथ "यंत्र सर्वस्य" में १०९ वे यंत्र के रूप में "ध्वान्त प्रमापक यंत्र", जो कि ३२ यंत्रांगो (ancillary components) से बना है, व्यापक रूप से 'ध्वांत' का विवेचन करने में समर्थ है। तथापि शारिकनाथ के अनुसार 'तम' (radiation) विवेचन के लिये १३ यंत्रांग ही पर्याप्त हैं, अत: हम उन्हीं पर विचार करेंगे।

ध्वान्त प्रमापक यंत्र (spectrometer) के तेरह यंत्रांगों के विवरण:
यंत्रांग १ एवं २

यंत्रस्थद्वादशांगस्यपूर्वभागेस्थितेक्रमात्।
चतुस्श्रेयथाशास्त्रंवर्तुलंभारवर्जितम्।
वितसस्तिदशकायामंसुदृढंचसुसूक्ष्मकम्।।
छायापकर्षणादर्शषड्डुत्तरशतात्मकम्।
शास्त्रोक्तविधिनासम्यक्स्थापयेत्सुदृढंत्तथा।।
पश्चाच्छायापकर्षणदर्पणे शास्त्र:क्रमात् -
शंकुस्थानाद्दक्षवामपार्श्वयोरुभयोरपि।
त्रिंशत्त्रिंशल्लिखेद्रेखादर्पणान्तावधिक्रमात्।।
अह:प्रमाणघटिकान्दक्षरेखास्तयो:क्रमात्।
रात्रिप्रमाणघटिकान्वामरेखस्तस्थैवहि।।
प्रदर्शयन्तिसंख्यात:तथाविघटिकान्क्रमात्।

तेषुदर्शयितुंरेखाश्चतुष्षष्ठिर्विलेखयेत्।।
सर्वत्र रेखान्त्यभागेबिन्दुनेकसमन्वितान्।
स्फुटंविलेखयेत्तद्वत्तदन्तस्सूक्ष्मतस्तथा।।

सर्वप्रथम प्रथम यंत्राग के रूप में उपयुक्त दृढता के १२० x १२० अंगुल के चतुश्रेय/वर्गाकार आधार पर अन्य बचे हुये १२ यंत्रागों में से दूसरे यंत्रांग के रूप में दर्पण योग्य (छायापकर्षणादर्श) कांचों में क्रमांक १०६ वाले पतले काँच का १२० अंगुल व्यास का चक्र दृढ़ता के साथ जमाया जाय। तदनंतर मेरुस्तंभ (शंकु) के अगल-बगल अर्थात् छायापकर्षणादर्श चक्र के क्रमश: दाँये-बाँये घटियंत्र की तरह रेखायें खींचकर दिन व रात के प्रविभागों के अंत में बिन्दु आदि से चिह्नित किया जाय।

यंत्रांग ३ (Ancillary Component ३)

चतुरंगुलमायामषड्वितस्त्युन्नतंतथा।
इतरांगैस्समाहृतविद्युत्तत्र्यादिभिर्युतम्।।
स्वमध्यादन्तपर्यन्तंवितस्तैकान्तरंयथा।
रंध्रात्रयेणसंयुक्तंशिलाकाचविनिर्मितम्।।
मेरुस्तंभाख्यशंकुंतन्मध्येसंस्थापयेद्दृढम्।

उसके पश्चात् शिला-कांच (stony glass) से निर्मित ४ अंगुल व्यास एवं ७२ अंगुल आयाम (ऊँचाई) का शंकु, जिस पर केन्द्र व केन्द्र से प्रारंभ होकर अंतिम छोर तक १२ -१२ अंगुल (वितस्ति) की दूरी पर तीन रंध्र (छिद्र) एवम् अन्य यंत्रांगों से जोड़ने वाले 'विद्युत तंत्र' (electrical wiring) से युक्त हो, जिसे 'मेरुस्तम्भ' (principal pillar) भी कहते हैं, को आधार के मध्य में सुदृढ़ता से स्थिर किया जाय।

यंत्रांग ४, ५ और ६ (Ancillary Component ४, ५ and ६)

दृढंदशांगुलायामंक्रमात्यष्ट्यंगुलोन्नतम्।
पश्चातृतीयरंध्रस्यपार्श्वयोरुभयोरपि।।
तथाद्वितीयरंध्रस्यपार्श्वयोरुभयोरपि।
शास्त्रोक्तविधिनादंडमेकंसंधारयेद्दृढम्।।
दण्डंसंधारयेतद्वत्सुदृढंकाचनिर्मितम्।
क्रमादष्टाङ्गुलायामंपंचाशदंगुलोन्नतम्।।
चत्वारिंशत्यंगुलोन्नतमायामेषडंगुलम्।
एवंप्रथमरंध्रस्यपार्श्वयोरुभयोरपि।।
दंडप्रमाणमुभयोस्समानमपिपार्श्वयो:।

दंडंसंयोजयेत्पूर्ववद्दृढंकाचनिर्मितम्।।
तथासंधारयेत्तेषुदंडानित्रीण्ययथाक्रमम्।
किंचिदूर्ध्वभवेद्दक्षेवामेथस्थात्स्थितिर्यथा। ।
दंडानांमूलदेशेसंधारयेत्पार्श्वयो: क्रमात्।
पूर्वोक्ततंत्रिभिर्युक्तचक्रकीलान्यथाविधि।।

तत्पश्चात् 'तृतीय रंध्र' के दोनों ओर, मेरुस्तंभ से १०-१० अंगुल की दूरी पर कांच से निर्मित ६० अंगुल लंबाई के स्तंभ, यंत्रांग-४ के रूप में तथा द्वितीय रंध्र के दोनों ओर भी मेरुस्तम्भ से ८-८ अंगुल की दूरी पर ५० अंगुल के स्तंभ यंत्रांग-५ के रूप में स्थिर किये जाँय।
यद्यपि दोनों ओर के स्तम्भ-युगलों की लम्बाईयाँ बराबर हैं परन्तु दाहिनी ओर के स्तम्भ की ऊँचाई उसके संगत बायीं ओर के स्तम्भ से कुछ अधिक होगी। यह स्थिति सभी स्तम्भ युगलों की होगी। मेरु स्तम्भ के अगल-बगल के दंडों पर भी विद्युत तंत्र्य (electrical wiring) तथा स्तंभ के छोर एवं आधार पर चरखी व डोरी (rope and axel) का संयोजन होगा।

यंत्रांग ७ (Ancillary cemponent-७)

पंचाशदंगुलायामंविस्तीर्णतावदेवहि।
त्रिंशद्रेखांचितंपश्चादनुलोमविलोमत:।।
स्वरूपेभानुवद्भासमानंस्वकिरणैस्स्वत:।
प्रभाकरमणिं शुद्धमष्ठाशीत्यात्मकंलघु।।
धारयन्तंमध्यभागे आतपोष्णादिभिर्युतम्।
प्रभाकरादर्शचक्रंसूर्यप्रतिनिधिंदृढ़म्।।
मेरोस्तृतीयरंध्रस्थदण्डान्त्यकेन्द्रके।
त्रिचक्रकीलकैस्सम्यक्स्थापयेद्भ्राम्यतेयथा।।

तदुपरान्त ३०-३० रेखाओं से दोनों ओर चिह्नित, ५० अंगुल व्यास के प्रभाकर/दिवाकर चक्र (circular glass plate) जिसपर मणि संख्या ८० वाला सूर्य जैसा चटक "प्रभाकर मणि" (probably a collimating lens) जड़ दिया गया हो, तृतीय रन्ध्र पर इस प्रकार स्थापित करें जिससे दाहिने स्तंभ पर लगी ३ घिर्री-डोरी के संयोजन के द्वारा घुमाया जा सके।

यंत्रांग ८ (Ancillary component ८)

पश्चाद्दिवाकरादर्शवद्रेखाबिन्दुभिर्युतम्।
सुधाद्रवशशोषादिद्रावकेश्चसुसंस्कृतम्।।
एतत्संस्कारतश्श्वेताभ्रवद्भास्वरमद्भुतम्।
आकारेणांशुभिश्चैवचन्द्रमण्डलवत्स्थितम्।।

भ्राजमानसप्तपंचाशदुत्तरशतात्मकम्।
किरणग्राहकमणिदधानमध्यकेन्द्रके।।
पंचचत्वारिंशदंगुलायामंवर्तुलंतथा।
षोडशोतरद्विशतसंख्याकसुदृढंलघु।।
निशाकरादर्शचक्रचन्द्रपतिनिधिक्रमात्।
पूर्ववत्तृतीयरंध्रवामदण्डान्त्यकेन्द्रके।।
संधारयेत्कीलकाद्यैस्स्वतस्संचाल्यतेयथा।

पुन: दिवाकर दर्शन के समान चिह्नित एवं (भवत:) सुधाद्रव (CaOH २) तथा शशोशादि द्रावक (phosphoric acids) के द्वारा वासित शुभ्र, २०६ क्रमांक का २४ अंगुल व्यास का निशाकर दर्शचक्र, किरण-ग्राहक-मणि से युक्त मेरुस्तंभ के ऊपर तीसरे रंध्र पर इस प्रकार स्थापित करें जिससे बाँई ओर के स्तम्भ पर स्थित चरखी-डोर के संयोजन के द्वारा घुमाया जा सके।

यंत्रांग ९ (Ancillary component ९)

उष्णापकर्षकंनामलोहंस्यात्कृत्कंतत:।
तेनप्रकल्पिह्यतंभानुफलकंमधुवर्णकम्।।
निशाकरादर्शचक्रादपिन्यूनषडंगुलम्।
बिन्दुरेखांकनैर्युक्तं अवटद्वयसंयुतम्।।
प्रथमावटमध्यस्थपारदेसन्निवेशितम्।
चतुषष्ट्युत्तरशतसंख्याकंभारवर्जितम्।।
घर्मपहारकमणिंबिन्दुरेखांकनैर्युतम्।
दधानंसुदृढ़सूक्ष्ममेरोरूर्ध्वंयथाविधि।।
क्रमाद्द्वितीयरंध्रस्थदक्षदंडान्त्यकेन्द्रके।
त्रिचक्रकीलकैस्सम्यक्स्थापयेद्भ्राम्यतेयथा।।

तत्पश्चात् 'ऊष्मापकर्षक लौह' से बना मधुवर्ण का निशाकरदर्श चक्र से ६ अंगुल कम व्यास का, रेखाओं, बिन्दुओं व संकेतों से चिह्नित 'भानुफलक', जिसके मध्य व किनारे दो अवट (Cavity) हों तथा जिसमें से प्रथम पारद से पूरित अवट में १६४ क्रमांक का 'घर्मापहारक मणि' (infrared sensitive glass) निमज्जित हो, द्वितीय रंध्र पर स्थापित करें जिससे कि मेरुस्तंभ की दाँई ओर के स्तम्भ पर लगी चरखी-डोर के समंजन से इसे स्वतंत्रतापूर्वक घुमा सकें।

यंत्रांग १० (Ancillary component १०)

पश्चाच्चतुर्दशोत्तरद्विशतेनयथाविधि।

तमोगर्भाख्यमणिनायोजितंभारवर्जितम्।।
त्रिसप्तत्युत्तरशतात्मकंधूम्राकृतिंतत:।
छायामुखादर्शचक्रबिन्दुरेखांकनैर्युतम्।।
मेरोर्द्वितीयरंध्रस्थवामदण्डान्त्यकेन्द्रके।
निशाकरादर्शस्याधस्थात्स्थापयेदृढ़म्।।
एतत्सूर्यप्रकाशस्थतमछायाप्रकर्षणम्।
कृत्वाविनिश्चीयतेतत्प्रमाणंचांकनादिभि:।।

इसके पश्चात् बिन्दु, रेखा आदि से अंकित, १७३ क्रमांक वाले धूम के रंग के काँच का 'छाया मुखदर्शचक्र जो कि २१४ क्रमांक वाले "तमोगर्भ मणि" (a lens suitable to ultraviolate radiation) से विधिपूर्वक सज्जित, द्वितीय रंध्र के नीचे इस प्रकार नियोजित करें जिससे मेरु स्तंभ के बाँई ओर के दण्ड पर चरखी-डोर की सहायता से घुमाया जा सके। यह सूर्य प्रकाश में स्थित तमछाया (ultraviolet radiation) को आवर्तित (अपकर्षण) कर अंकन आदि (graduations) से उनका परिमाण निर्धारित करता है।

यंत्रांग ११ (Ancillary component ११)

पश्चाद्द्विचत्वारिंशतिकप्रभामणिनायुतम्।
भागर्भादर्शवर्गस्थंषण्णवत्यात्मकंतत:।।
स्वच्छंप्रभामुखादर्शबिंदुर्रेखांकनैर्युतम्।
मेरुस्तंभप्रथमरंध्रदक्षदण्डान्त्यकेन्द्रके।।
त्रिचक्रकीलकैस्सम्यक्स्थापयेद्भ्राम्यतेयथा।
किरणोष्णप्रकाशांशंसूर्यस्येतत्स्वभावत:।।
पूर्वोक्तभानुफलकात्समाकृष्यस्वशक्तित:।
निश्चीयतेतत्प्रकाशप्रमाणस्वांकनादिभि:।।

पुन: अंशांकित ९६ क्रमांक के कांच से निर्मित "भानुगर्भदर्शचक्र" जो कि ४२ क्रमांक वाले "प्रभाकर मणि" से युक्त हो प्रथम रंध्र के ऊपर मेरुस्तंभ से दाहिनी ओर के दंड पर अवास्थित तीन चरखी-अक्ष पर ठीक से संयोजन करें, जिससे ठीक तरह से घुमाया जा सके।

यंत्रांग १२ (Ancillary component १२)

एतद्भवेत्कृतकलोह:प्रकाशस्तंभनाभिद:।
तेनप्रकल्पितंचक्रंबिन्दुरेखांकनैर्युतम्।।
नवसंख्याकमणिनावल्लभाख्येनराजितम्।

प्रकाशस्तंभनाचक्रंपंचाशीत्यात्मकंलघु।।
मेरुस्तंभप्रथमकेन्द्रवामदण्डान्त्यकेन्द्रके।
त्रिचक्रकीलकैस्सम्यक्स्थापयेत्सुदृढ़ंयथा।।
भागर्भदर्पणस्थितकिरणोष्णप्रकाशकम्।
एतत्स्वशक्त्याबध्नात्यस्पंदनंस्याद्यथाक्रमम्। ।

(पूर्व में उल्लिखित विधि से बनाये गये क्रमांक ९६ वाले) "प्रकाश स्तंभनाभिद लौह" नामक विशिष्ट काँच से निर्मित तथा बिन्दु, रेखा आदि से अंकित "प्रकाशस्तंभनचक्र", जिसपर ९ क्रमांक वाला "वल्लभ मणि" बैठाया गया हो, प्रथम रंध्र के नीचे मेरुस्तंभ के बाँयी ओर के दण्ड पर तीन चरखी-अक्ष संयोजन को ठीक तरह से सुदृढ़ता पूर्वक स्थापित किया जाय, जिससे 'भागर्भ दर्पण' के गुणों के कारण प्रकाश में स्थित किरणों का मापन हो सके।

यंत्रांग १३ (Ancillary component १३)

छायाप्रभाविभाजकलौहस्यात्कृतकस्तत:।
तेनप्रकल्पितंछायाप्रभाविभाजकपट्टिकाम्।।
यावत्प्रमाणंचक्राणांषण्णामुभयपार्श्वयो:।
तावत्प्रमाणंसंक्लृप्तांपट्टिकांभारवर्जिताम्।।
मेरूस्तंभप्रथमरंध्राधोभागेयथाविधि।
पार्श्वद्वयस्थचक्राणांसंधिस्थानंन्यसेत्तत:।।

तत्पश्चात् "छाया-प्रभा विभाजक लौह" (ultraviolet-visible differentiating glass) से निर्मित "छाया-प्रभा विभाजक पट्टिका", जो कृति में दो गोलाकार फलकों के अगल-बगल आपस में जुड़ने से प्राप्त होती है, इस प्रकार की हो ताकि मेरुस्तंभ के दोनों ओर के सभी चक्रों के क्षैतिज तल में उर्ध्वाधर प्रक्षेप को समेटने योग्य हो।

चित्र संख्या १७

महर्षि भरद्वाज का नवीनता से परिपूर्ण "ध्वान्त-प्रमापकन्यंत्र" (A Novel Spectrometer Monochromator) का रेखा-चित्र

"अंशुबोधिनी" के उपलब्ध पाठ में उपर्युक्त यंत्र के वर्णन को दृष्टिगत रखते हुए, इस लेख के लेखक के द्वारा संभावित रेखाचित्र अभिकल्पित किया है, जो कि अंशुबोधिनी के पाठ के अनुसार उस समय ज्ञात पाँच प्रकार के यंत्रों में से एक है, चित्र संख्या-१७ में दर्शाया गया है।

प्राचीन भारत में वर्णक्रम मापन - २

(क्रमशः)

जब हम इस यंत्र के पाठ (text) का अध्ययन करते हैं तो प्रतीत होता है कि इस यंत्र में प्रकाश विकिरण के तीनों क्षेत्र अर्थात् अंधतम, गूढ़तम एवं तम (ultraviolet, visible and infrared region) के मापन के लिये आवश्यकता के अनुसार सुविधा निहित है। उदाहरणार्थ, गूढ़तम (visible radiation) के मापन हेतु प्रकाश को दिवाकर दर्श चक्र (यंत्रांग - ७) पर स्थित प्रभाकर मणि, जो कि समानान्तर कारक मणि (collimating lens) के रूप में कार्य करता है, पर आपतित करते हैं, इससे निर्गत समानान्तर किरणें निशाकर दर्श चक्र (यंत्रांग - ८) पर स्थित "किरण ग्राहक मणि" (conical prism) द्वारा आवर्त्तित होकर अंत में प्रभामुखदर्शचक्र (यंत्रांग - ११) पर स्थित प्रभामणि के द्वारा "छायापकर्षण दर्श" (यंत्रांग - २) पर वार्णिक वृत्तों (spectral remhd) के रूप में, जिनका केन्द्र अंशांकित वृत्तात्मक पैमाने के केन्द्र पर स्थित होते हुए प्रतिबिम्ब बनाता है।

तत्तद्रेखांकनैस्सम्यक्प्रमाणंतमस:क्रमात्।
निर्णेतुंशक्यतेतस्मात्तदंगोत्रप्रदर्शित:।।
प्रमाणविधिरप्यत्रसंकेतात्सोच्यतेधुना।

उपर्युक्त अंशाकित वृत्तात्मक पैमाने पर वार्णिकवृत्त (spectral ring) के छेदन बिन्दु के संगत कोण के द्वारा तम-प्रमापक-संख्या किंवा 'सांकेत' का मापन होता है।

वर्णक्रमीय आँकड़े (Spectral data) एवं उनकी विवेचना-

इस संदर्भ में अंशुबोधिनी में तम के वर्णक्रमीय वृत्तों के सांकेतिक नाम (सांकेत) के साथ तम-प्रमापक-संख्या कोण की "कक्ष्य" इकाई में क्रमपूर्वक दी गयी है जोकि निम्नांकित उद्धरण से प्राप्त होती है -

संकेतों की नियमावली-

तम:प्रमापकसंख्यासांकेतनिर्णय:।
अलिकंकौलिकंचैवरन्ध्रंमण्डमत:परम्।
बिंबोकंवीचकमथतामसंरौणिकंस्फुटम्।।
स्तंभं शंबरमंछूरंगुच्छकंकुड्डपंतथा।
गुळिकंछेटिकंपद्मंमण्डलंकंचुकंतथा।। इत्यादि।।

तम (radiation) की तम प्रमापक संख्याओं की संगत सांकेतों की नामावली-(संस्कृत पाठ) (तम-प्रमापक-संख्या) (सांकेत)

पंचविंशच्छतकक्ष्यतमोबिन्दुरितीर्यते। १२५ तमोबिन्दु
तत्पपंचकमलीकंस्यात्त्र्यळीकंकौलिकंभवेत्।। १३० अलिक

रंध्रतत्पंचकंविन्द्यान्मण्डतस्याष्ठकंविदु:। १३३ कौलिक
तन्मण्डदशकंबिम्बोकमितिप्रोच्यतेतथा।। १३८ रंध्र
- १४६ मण्ड
- १५६ बिम्बोक
तद्विंशतिर्वीचकंस्यातामसंतद्दशस्तथा। १७६ विचक
तदष्टकंरौणिकंस्यात्कुटंतद्वादशेतिच।। १८६ तमस
- १९४ रौणिक
- २०६ कुट
ततस्तदशकंस्तंभमितिसंकीर्त्यतेक्रमात्। २१६ स्तम्भ
तत्स्तंभपंचवदशकंशंबरंस्यातथैवहि।। २३१ शम्बर
शंबरस्याष्टदशकंमंछूरमितिकीर्तितम्। २४९ मंचुर
तदष्टदशकंतद्वद्गुच्छमित्यभिधीयते।। २६७ गुच्छक
- २८७ कुडुप
कुडुपंतद्विंशतिस्स्यातदष्टाविंशतिक्रमात्। ३१५ गुलिका
प्रोच्यतेगुलिकमितितत्त्रिंशच्छेटिकंस्मृतम्।। ३४५ छोटिका
छेटिकस्यत्रयोविंशत्पद्ममित्यभिथीयते। ३६८ पद्म
तत्पद्मद्वात्रिंशतिर्मण्डळमित्युंच्यतेतथा।। ४०० मण्डल
तन्मण्डळाष्टविंशत्कंचुकमित्यभिथीयते। ४२८ कंचुक
इत्यादि।। - इत्यादि

अंशुबोधिनी के पाठ (text) में उद्धृत सूर्यप्रकाश के वर्णक्रम से संदर्भित ये आँकड़े विवेचित किये जाँच इसके पूर्व प्राचीन कोण की इकाई "कक्ष्य", मणि संयोजन (prism setting) तथा आवश्यक सूत्र के निष्पादन हेतु वैज्ञानिक टिप्पणियों की आवश्यकता है।

प्राचीन कोण की इकाई "कक्ष्य"-

भास्कराचार्य की गणित की पुस्तक "लीलावती" के पाठ के अनुसार
व्यासेभनन्दाग्निहतेविभक्तेखबाणसूर्यैस्स: परिधिस्सूक्ष्म:।
द्वाविंशतिघ्ने हृतेथ शैले स्थूलोथवा स्याद्व्यवहारयोग्य:।।

"परिधि के सूक्ष्म परिमाण के लिए व्यास को ३९२७ से गुणा करके १२५० से भाग दें। व्यावहारिक किंवा स्थूल मान के लिए २२ से गुणा करके ७ से भाग दें।

"अत: "π" का मान २२/ ७ की अपेक्षा अधिक सही मान निमांकित व्यंजक से प्राप्त होगा।

π = ३९२७ / १२५० = ३९२७ x ८ / १२५० x ८ = ३१४१६ / १००००अर्थात् १०,०००

इकाई लम्बाई वाले वृत्त की अर्ध परिधि ३१४१६ इकाई के तुल्य होगी। अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में इस परिधि पर की इकाई चाप (arc) के द्वारा केन्द्र पर बने कोण को १ "कक्ष्य" मानते रहे हैं।
अत: १ कक्ष्य = १०-४ रेडियन (radian) किंवा १०.००० कक्ष्य = १ रेडियन। द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार "रेडियन" शब्द अंग्रेजी शब्द रेडियस (radius) से व्युत्पन्न होता है, उसी प्रकार "कक्ष्य" भी कक्षा (orbit) से व्युत्पन्न प्रतीत होता है।

३(ii) मणि-संयोजन (Prism Setting)-

यंत्र की विशिष्ट संरचना अंतरिक्षीय स्रोतों किंवा सौर विकिरण को सुलभता से प्राप्त करने एवं समानान्तर कारक मणि (collimating lens) की नाभि (focus) पर अवस्थित "सूचि छिद्र" (pin hole) पर आपतित होने योग्य है। प्रयुक्त मणि (prism) शंक्वाकार (conical) है जिसका समतल आपतित समानान्तर किरणों के अनुदिश एवं लम्बवत् होता है। विशिष्ट तरंग दैर्ध्य (wave length) वाला कोई वार्णिक-विकिरण-मणि (prism) एवं प्रतिबिम्ब-कारक-मणि (focussing lens) से आवर्त्तन के उपरान्त नाभितल में वार्णिक वृत्त (spectral circles) के रूप में बिम्ब बनाता है।

चित्र संख्या-१८ में किरण आरेख प्रदर्शित है। यह मणि संयोजन (prism setting) सभी तरंग दैर्ध्य वाली किरणों के लिये एक कालिक (simultancously) न्यूनतम विचलन (minimum deviation) किंवा सार्वत्रिक (universal) संयोजन के तुल्य है, जबकि त्रिकोणीय मणि (triangular prism) की अवस्था में प्रत्येक तरंग दैर्ध्य की किरणों के लिये अलग-अलग मणि-संयोजन आवश्यक होगा। यदि निम्नांकित तर्कों पर हम विचार करें तो यह स्पष्ट विदित हो सकता है।

चित्र संख्या-१८

चित्र संख्या १९

त्रिपार्श्व (Triangular prism) ABC के द्वारा किसी दी गयी तरंग दैर्ध्य की किरण के न्यूनतम विचलन के लिये प्रतिबन्ध है कि आपतित एवं निर्गत किरणें अपने संगत पार्श्व पर समान रूप से झुकी हों जैसा कि चित्रसंख्या १९ (i) में पदर्शित है। त्रिपार्श्व में किरण का मार्ग, आधार BC के समानान्तर हो जाता है। कल्पना करें कि त्रिपार्श्व के शीर्ष । से गुजरने वाला, BC रेखा पर लम्बवत् तथा ABC तल पर भी, अभिलम्बवत् है उस पर आपतित किरणें लम्बवत् होती हैं जो कि सभी तरंग दैर्ध्य की किरणों के लिये सत्य होगा तथा यह प्रतिबन्ध अनुपालित होगा। कल्पना करें काट रेखा युक्त (Shaded) अर्धभाग त्रिपार्श्व से निकाल देते हैं जैसा कि चित्र संख्या १९ (ii) में प्रदर्शित है तथा किरणें ।क् तल पर

आपतित होती है, तो दाहिने भाग के द्वारा विचलन वही होगा जैसा कि पूर्व में न्यूनतम विचलन के लिये प्रतिबन्ध के समय था। चित्र संख्या १९ (iii) आवश्यक सूत्र का निगमन-
त्रिपार्श्व के द्रव्य का आवर्त्तनांक 'μ' का मान निम्नांकित व्यंजक से प्राप्त होगा।

$\mu = \sin(\alpha+\delta) / \sin\alpha$ .....(१)

जहाँ पर δ और α क्रमश: शंक्वाकार मणि का आधार कोण एवं आवर्त्तित किरण का विचलन है।
हम जानते हैं कि तरंग दैर्ध्य λ पर आवर्त्तनांक μ निर्भर करता है तथा λ का मान अनंत की ओर अग्रसर हो तो, आवर्त्तनांक घटकर अपने न्यूनतम मान को, 'मान लें' μ_o को प्राप्त करता है एवं यदि दी गयी किसी तरंग-दैर्ध्य का विचलन का मापन सीमान्त विचलन δ_o से किया जाय तथा इसका मान 'x' रेडियन हो तो

$\delta = \delta_o + x$ ..... .(२)

जहाँ पर x का मान 'x' रेडियन हो तो इस मान को समीकरण १ में रखने पर हम पाते हैं कि
$= \sin(\alpha+\delta_o+x) / \sin\alpha = \{\sin(\alpha+\delta_o)\cos x + \cos(\alpha+\delta_o)\sin x\} / \sin x$
$= \sin(\alpha+\delta_o)\cos x / \sin\alpha + \cos(\alpha+\delta_o)\sin x / \sin\alpha$
$= \mu_o \cos x + (\mathrm{cosec}^2\alpha - \mu_o^2)^{१/२} \sin x$
$= \mu_o + (\mathrm{cosec}^2\alpha - \mu_o^2)^{१/२}$, x चूँकि x का मान बहुत कम है.....(३)

इस समीकरण का कौशी (Couchi's) सूत्र $\mu = A+B / \lambda^2$.....(४) से तुलना करने पर हम प्राप्त करते हैं कि

$A = \mu$ तथा $x = [B / (\mathrm{cosec}^2\alpha - \mu_o^2)^{१/२}] / \lambda^2$.....(५)

प्रस्तुत प्रसंग में इस सूत्र का उपयोग-
अध्ययन से स्पष्ट है कि प्राचीन पाठ से प्राप्त वर्ण-क्रमीय आँकड़े (spectroscopic data) पुनरुत्पादित किये जा सकते हैं यदि शंक्वाकार मणि (conical prism) फ्लिंट (Flint) काँच का बना हो और उसका आधार का कोण π/६ रेडियन हो, तो

$A = \mu_o = \sin\{(\pi/६) + \delta_o\} / \sin(\pi/६)$
तथा $x = B / \{४ - \mu_o^2\}^{१/२}. \lambda^2$

जहाँ स्थिरांक A तथा B की गणना नीचे दिये गये तरंग दैर्ध्य तथा संगत आवर्त्तनांक के प्रामाणिक मानों के आधार पर ज्ञात कर सकते हैं-

Flint glassRefractive Index Wavelength in A Line Colour

१.६२२ ६५६३ C रक्त (Red)
१.६२७ ५८९० D पीत (Yellow)
१.६३९ ४८६२ F नील (Blue)

इन आँकड़ों के उपयोग के उपरान्त कोशी (Cauchi's) सूत्र को हम निम्नांकित रूप में पाते हैं-
μ = १.६०१३२१५ +८.९०६८२९१ x १०-११/ λ २
जहाँ पर A= १.६०१३२१५ तथा B = ८.९०६८२९१ x १०-११, जिनसे x का मान प्राप्त कर सकते हैं। यथा x = ७.४३३२८४५ x १०-११/ λ २रेडियन = ७.४३३२८४५ x १०-७/ λ २कक्ष्य .....(७)

इस सूत्र से किसी दिये गये तरंग दैर्ध्य के लिये तम-प्रमापक-संख्या, कोण की कक्ष्य इकाई में ज्ञात कर सकते हैं। दृष्य विकिरण (गूढ़तम - Visible radiation) की दीर्घ तरंग दैर्ध्य की ओर की सीमा ७७०० आंगस्ट्राम है। इस सीमान्त बिन्दु, जो कि तम (infrared) का प्रारंभिक बिन्दु अथवा "तमोबिन्दु" जैसा कि संस्कृत पाठ (text) में उद्धृत है, के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अब हम उपर्युक्त समीकरण (७) की सहायता से x का कक्ष्य इकाई में मान ज्ञात करें जो कि निम्नांकित होगा-

x = ७.४३३२८४५ x १०-७/ (७७०० x १०-८)२कक्ष्य = १२५.३७ कक्ष्य ≅ १२५ कक्ष्य, जो कि तमोबिन्दु के संगत दी गयी 'तमप्रमापक संख्या' का मान ही है जैसा कि संस्कृत पाठ (text) में उल्लिखित है।

पुन: सौर वर्णक्रम में दृश्य परास (visible region) में स्थित फ्राउनहॉफर रेखाओं का क्रम से कक्ष्य इकाई में मान ज्ञात कर सकते हैं। 5

सौर वर्णक्रम में कई फ्राउनहॉफर रेखायें देखी गयी हैं। 6 परन्तु कुछ ही को A,B,B, आदि संकेतों से सम्बोधित किया गया है। इनके लिये कक्ष्य मान की गणना कर सकते हैं और आसानी से A को अलिक, B को बिम्बोक, B को वीचक, D को स्तंभ, E २को गुच्छक, b ४को कुडुप, F को गुलिका, G को मण्डल तथा h, Hg को कंचुक के रूप में पहचान हो सकती है क्योंकि गणनाकृत मान संस्कृत पाठ में दिये सांकेतों के संगत कक्ष्य मानों के काफी निकट हैं और इन्हें तालिका-१ (table-१) में दो से छठें स्तंभ में दिखाया गया है। इसके विपरीत सांकेतों यथा कौलिक, रंध्र, मण्ड, तमस, रौणिक, कुट, शम्भर, मंचुर, छोटिक तथा पद्म, के तमप्रमापक संख्याओं के संगत तरंग-दैघ्र्यों की गणना की जा सकती है और इन्हें तालिका-१ के तीसरे स्तंभ में तारांकित (asterisk) दिखाया गया है। इन फ्राउनहॉफर रेखायें सौर वर्णक्रम में स्थित तो हैं परन्तु ज्योतिर्भौतिकी में कोई सांकेतिक नाम नहीं दिया गया है।
दृश्य परास (visible range) को पूर्ण करने हेतु दो और फ्राउनहॉफर रेखायें (H and K) तथा अंधतम के पूर्व की सीमान्त तरंग दैर्ध्य (३९०० A), जिसे अंधतमो बिन्दु (ultraviolet rediation) कह सकते हैं, को भी तालिका-१ की अंतिम तीन पंक्तियों में सम्मिलित कर ली गयी है। इन मानों का सम्मिलित करना भी न्याय संगत है क्योंकि प्राचीन तालिका 'इत्यादि' कह कर एकाएक समाप्त की गयी है। यह रोचक तथ्य भी ध्यानाकर्षण योग्य है कि जैसा कि आधुनिक ज्योर्तिभौतिकी में

नक्षत्रों का वर्णक्रमीय वर्गीकरण 7 में इन्हें तालिका-१ के स्तंभ ७ और ८ में दिखाया गया है।

तमप्रमापक संख्या एवं फ्राउनहॉफर रेखायेंक्र.सं. फ्राउनहौफर रेखाएँ तरंगदैर्ध्य (एंग्स्ट्रांग इकाई में) कक्ष इकाई में तमप्रपापक संख्या गणनात्मक संस्कृत पाठ कक्ष इकाई में तमप्रपापक संख्या गणनात्मक संस्कृत पाठ "सांकेत" (सांकेतिक नाम) वर्णक्रमीय वर्गीकरण में नक्षत्र- प्रकार वर्णक्रमीय वर्गीकरण में नक्षत्र- प्रकार

१ - अनन्त रंग ० ० - - -

२ - ७७०० १२५.४ १२५ तमोबिन्दु - -

३ A ७५९४ १२८.९ १३० अलिक - -

४ - ७४७६* - १३३ कौलिक R.N गहरा रक्त

५ - ७३३९* - १३८ रन्ध्र - -

६ - ७१३५* Red - १४६ मंड S गहरा रक्त

७ B ६८७० १५७.६ १५६ बिंबोक - -

८ C ६५६२ १७२.६ १७६ वीचक M रक्त

९ - ६३२२* - १८६ तमस - -

१० - ६१९०* - १९४ रौणिक K रक्ताभ पीत

११ - ६००७* Orange - २०६ कूट - -

१२ D ५८९० Yellow २१४.३ २१६ स्तम्भ G पीत

१३ - ५६७३* - २३१ शंबर - -

१४ - ५४६४ - २४९ मंछूर F पीताभ श्वेत

१५ E २ ५२७० Green २६७.६ २६७ गुच्छक - -

१६ b ४ ५१६८ २७८.३ २८७ कुडुप A श्वेत

१७ F ४८६१ ३१४.६ ३१५ गुलिका - -

१८ - ४६४२* Blue - ३४५ छोटिका B नीलाभ श्वेत

१९ - ४४९५* - ३६८ पद्म - -

२० G ४३०८ ४००.५ ४०० मण्डल O नीलाभ श्वेत

२१ h.Hg ४१६४ Violet ४२८.७ ४२८ कंचुक - -

२२ H ३९६८.५ ४७२ - - - -

२३ K ३९३३.७ ४८० - - - -

२४ - ३९०० ४८९ - अंधतमो बिन्दु - -

गवाक्षों एवं मणियों (windows and lenses) के निर्मिति में प्रयुक्त लौहों (materials) की निर्माण विधि एवं उनके गुण- इस अध्ययन से न केवल यंत्र अपितु तम के विभिन्न परासों (different ranges of radiation) में लौहों (materials) का, जो कि शंक्वाकार मणि, उन्नतोदर मणि तथा गवाक्षों (conical prisms, lenses and windows) के निर्मिति हेतु प्रयोग में आते थे, का विवेचन प्राप्त होता है। निम्नांकित श्लोकों में लौहों का वर्णन दिया गया है यथा-

ऊष्णापकर्षक लौह,-

श्वेतदूर्वाकमलपुष्पक्षाराष्टकमत:परम्।।
ताम्रषोडशकेचूलीताम्रषोडशकंतथा।
द्वादशस्वर्णलोहेषुहिरण्याष्टकमेवच।।
गोदन्तीतालषट्कंचसूतपंचवकमेवच।
सूर्यकान्तशिलाषट्कमेतान्संयोज्यभागश:।।
क्रमान्माधिममूषायांसंपूर्याथयथाविधि।
कूर्मव्यासटिकामध्येस्थाप्येगालादिभि:क्रमात्।।
द्वात्रिंशदुत्तरचतुश्शतकक्ष्योष्णमानत:।
गालयित्वायंत्रमुखेतद्रसंपूरयेत्क्रमात्।।
उष्णापकर्षकंनामलोहंस्यात्कृत्कंतत:।
तेनप्रकल्पितंभानुफलकंमधुवर्णकम्।।

प्रकाशस्तंभनाभिदलौह,-
स्तंभनामुखलोहेषुपश्चाद्द्वादशकस्यच।
क्रमात्खचराख्यलोहस्याष्टभागांशकंतथा।।
भूचक्रसुरमित्रादिक्षारपंचकमेवच।
अयस्कांतस्यचत्वारिषड्भागोरुरुकस्यच।।
एतान्तसंमेळ्यविधिवत्तत्तद्भागानुसारत:।
पश्चाद्भ्रामणिकमूषामुखमध्येप्रपूर्यच।।
पंचषष्ट्युत्तरद्विशतकक्ष्योष्णप्रमाणत:।
गालयित्वातिवेगेनयंत्रास्ये संपूरयेत्।।
एतद्भवेत्कृतकलोह:प्रकाशस्तंभनाभिद:।

छाया प्रभाविभाजक लौह,-
अथांजनिकदशकंधौम्यद्वादशकंतथा।
नीलांजनेषोडशांशंचतुर्विंशांशकंरुरो:।।

जंबालिकास्थिदशकंशर्कराष्टकमेवच।
चतुर्दशांशंसूतस्यनवांशंगैरिकस्यच।।
वराटिकापंचकंचतत्तद्भागानुसारत:।
एतान्संयोज्यमूषायांसंपूर्यविधिवत्क्रमात्।।
षड्विंशत्युत्तरपंचशतकक्ष्योष्ण मानत:।
गालयित्वाथयंत्रास्येसेचतेयेद्यदिवेगत:।।
छायाप्रभाविभाजकलौहस्यात्कृतकस्तत:।

आदि, उदाहरण के रूप में यहाँ पर उद्धृत हैं।
इनमें से एक सर्वथा नवीन "प्रकाशस्तंभनाभिद" नामक लौह (material), आर्द्रता से अप्रभावित रहने वाला (nonhygroscopic), ५००० से.मी.-१से १४०० से.मी.-१(अर्थात् प्राचीन पैमाने पर लगभग १९ कक्ष्य से २ कक्ष्य तक) के अवरक्त तम (infrered radiation) के लिये पारदर्शी है, उसे राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला (NML), जमशेदपुर, भारत में बनाया जा चुका है, जो कि निश्चय ही आज के आधुनिक विज्ञान की अति उन्नत तकनीकी के ज्ञान में एक विशेष योगदान है।

प्रकाशस्तंभनाभिद लौह 8

मूल रूप से यह लौह (material) "अंशु बोधिनी" की पांडुलिपि में पृष्ठ ७६ पर वर्णित है जिसका स्वरूप निम्नांकित है-

(अ) स्तंभनामुखलोहेषुपश्चाद्न्दशकस्यच।
क्रमात्खचराख्यलोहस्याष्टभागांशकंतथा।।
भूचक्रसुरमित्रादिक्षारपञ्चकमेवच।
अयस्कांतस्यचत्वारिषड्भागोरुरुकस्यच।।
एतान्संमेळ्यविधिवत्तत्तद्भागानुसारत:।
(ब) पश्चाद्भ्रामणिकमूषामुखमध्येप्रपूर्यच।।
पञ्चषष्ट्युत्तरद्विशतकक्ष्योष्णप्रमाणत:।
(स) गालयित्वातिवेगेनयंत्रास्येसंपूरयेत्।।
(द) एतद्भवेत्कृतकलोह:प्रकाशस्तंभनाभिद:।

इसमें चार द्रव्यों-"खचर लौह", "भूचक्रसुरमित्रादि क्षार", "अयस्कांत" तथा "रुरुक" का उल्लेख है जिनकी लेखक के द्वारा क्रमश: सिलिका (silica - SiO २), लाइम (lime - CaO), लोड स्टोन (lode stone - Fe ३ O ४) एवं हरिणशावक अस्थिक्षार (deer bone ash - Ca ३ P २ O ८) के रूप में पहचान की गयी है।
टिप्पणि- उपर्युक्त उद्धरण का हिन्दी अनुवाद अर्थपूर्ण हो सके एतदर्थ हम सर्वप्रथम उपर्युक्त उद्धरित चार द्रव्यों, नामत: १. खचर, २. भूचक्रसुरमित्रादि क्षार, ३. अयस्कान्त तथा ४. रुरुक पर विचार करते हैं एवं उनकी आधुनिक वैज्ञानिक विश्व

को ज्ञात संगत लौहों (material) के साथ पहचान की कोशिश करते हैं।
क-१ उनमें प्रथम खचर (अंतरिक्ष में भ्रमण करने वाले) को हम अपने ग्रह 'पृथ्वी' के संदर्भ से सूर्य की अत्यंत प्रमुख नक्षत्र (star) के रूप में मान्य करते हैं। यहाँ पर सूर्य के लिये प्रतिनिधि लौह से तात्पर्य है जो कि भारतीय पुराणों के अनुसार स्फटिक (Quartz or silica SiO २) होता है।

क-२ अगला द्रव्य भूचक्र या सुरमित्र है। पहला शब्द 'भूचक्र' संकेत देता है कि यह बाह्य तल सर्पिल (spiral) आकृति लिये हुए भौमिक द्रव्य है। दूसरा पर्यायवाची शब्द सुरमित्र (हिन्दू देवताओं का मित्र) को विष्णु के रूप में ग्रहण कर सकते हैं, जिसका प्रतिनिधि द्रव्य शालिग्राम है।

वास्तव में फाइलम सीफैलोपोडा एम्नोनॉयडिया (phylum cephalopoda amnonoidea) वंश का यह जीवाश्म (Fossil) जुरैसिक काल का स्पीति शेल (spiti shale) है, जिसकी रासायनिक संरचना कैलशियम कार्बोनेट (calcium - CO ३) है। संस्कृत पाठ इस लौह के क्षार भस्म के प्रयोग करने का निर्देश देता है। अत: इस द्रव्य का पाकज लौह (calcination product) को चूना या कैलशियम ऑक्साइड (Calcium oxide - CaO) है।
क-३ तीसरा लोहे को आकर्षित करने वाला लौह अयस्कान्त है। स्पष्ट है कि यह मैग्नेटाइट या लोड स्टोन (magnetite or lode stone) है जिसकी रासायनिक संरचना फेरेसोफेरिक ऑक्साइड (Ferresoferric oxide - Fe ३ O ४) है।

क-४ अंतिम द्रव्य 'रुरुक' है। रुरु का अर्थ मृग शावक होता है अत: रुरुक का तात्पर्य मृग-शावक से प्राप्त होने वाला लौह है। काँच बनाने में प्रयुक्त प्रधान घटकों में से एक घटक अस्थिभस्म (bone ash) है। अस्थिभस्म मुख्यरूप से ट्राइकैलशियम फॉस्फेट (tricalcium phosphate - Ca ३ P २ O ८) है। प्राचीन काल में भारतीय वनों में बहुतायत से हरिण (मृग) थे तथा भारतीय पुराणों में सामान्य रूप से यत्र-तत्र इनका वर्णन मिलता है।
उपर्यक्त टिप्पणी के पश्चात् विचाराधीन संस्कृत श्लोकों का अनुवाद निम्नांकित रूप में कर सकते हैं-
क. तत्पश्चात् तम-स्तंभक (radiation absorbing) लौहों की सूची में से बारहवाँ खचर लौह (silica -Si O २) का ८ भाग, भूचक्र सुरमित्रादि क्षार (lime - CaO) के पाँच भाग, अयस्कान्त (lode stone - Fe ३ O ४) के चार भाग तथा रुरुक (deer bone ash - Ca ३ P २ O ८) के छह भाग उपर्युक्त अनुपात में विधिवत् मिलाये जाते हैं।
ख. इसके पश्चात् भ्रामणिकमूषा (घूमने वाली घरिया - rotating crucible) में प्राचीन स्पर्शमान पैमाने पर २६५ कक्ष्य (लगभग ९४० °c) पर पिघलाते हैं और तब
ग. अतिशीघ्रता से यंत्रास्य (सांचे - कलम) में उडेलते हैं, तो
घ. इस प्रकार प्रकाश स्तंभनाभिद लौह अर्थात् दृश्य प्रकाश का अवशोषक/अनुरक्त प्रकाश का संचारक काँच (light absorbing / heat transmilting material) तैयार होता है।क्योंकि ये लौह ८, ५, ४, तथा ६ भाग, भार के अनुपात में मिश्रित करने हैं, अत: सर्वप्रथम एक भाग के तुल्य भार मान को विनिश्वित करना होता है।
पूर्व के अध्ययन 9 से ज्ञात होता है कि मुष्टि किंवा लौह पल का भार ४८ माष (५४.२४ ग्राम) है। किसी उत्पादित लौह का मानक (standard) भार प्राप्त करने के लिये उत्पादन के पूर्व उत्पादन-प्रक्रिया के समय होने वाली भार में क्षतियों को ध्यान में रखना होता है। यदि १०% की कुल मिलाकर भार में क्षति होने की संभावना हो तो उत्पादक (manufacturer)

की इकाई ५४.२४ ग्राम के स्थान पर ६०.३ ग्राम होगी। अत:, जैसा कि निम्नांकित तालिका में दिखाया गया है, ८, ५, ४, तथा ६ भागों को लगभग उचित भार मान में अभिव्यक्त कर सकते हैं।

"प्रकाश स्तंभनाभिद लौह की संरचना" विवेचनलौह की रासायनिक संरचना की पहचान एवं अयस्क में प्रतिशत उपस्थिति संस्कृत पाठ में उद्धृत अनुपात संगत भार= ६०.३ x अनुपात ग्राम(Gms) अणु भार निकटतम पूर्णांक में अनुमानित अणु संख्या सापेक्ष अनुपात के साथ अणुओं की संख्या

(१) (२) (३) (४) (५) (६)

खचर लौह ८ ४८२.४ ६०.३ ८~८ ८(SiO २३७%

भूचक्रसुरमित्रादिक्षार ५ ३०१.५ ५६.१ ५.३७~५ ५(CaO)२१.५%

अयस्कान्त ४ २४१.२ २३१.४ १.०४~१ (Fe ३ O ४)१७.७%

रुरुक ६ ३६१.८ ३१०.३ १.१७~१ (Ca ३ P २ O ८)२३.८%

गत तालिका में स्तम्भ (१) रासायनिक संरचना की पहचान के साथ घटक लौह, स्तम्भ (२) में उसका अनुपात, स्तम्भ (३) में संगत भार, स्तम्भ (४) में घटक अणु का अणुभार, स्तम्भ (५) में निकटतम पूर्णाङ्क के साथ अनुमानित अणु संख्या तथा अंतिम स्तंभ (६) में अंतिम पाकज लौह (product) में "प्रकाश स्तम्भनाभिद लौह" की निर्मितीकारक घटक अणुओं के सापेक्ष प्रतिशत के साथ अणुओं की संख्या दी गयी है जो कि इस लौह का आनुभविक सूत्र (empirical formula) के रूप में ५(CaO.SiO २) . (Fe ३ O ४.३ SiO २) . (Ca ३ P २ O ८) निर्देशित करता है।

भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी (INSA), नई दिल्ली द्वारा वित्तपोषित प्रकल्प (project) के अंतर्गत राष्ट्रीय-धातुकर्म-प्रयोगशाला (NML), जमशेदपुर, भारत में यह लौह (काँच) निर्मित किया गया एवं इसकी संचरणकता परीक्षा (transmittance test) की गयी। निकोलेट इंस्ट्रुमेंट कारपोरेशन (Nicolet Instrument Corporation) के स्पेक्ट्रोफोटोमीटर (spectrophotometer) की सहायता से वर्ण क्रमांकन (spectrogram) से यह स्पष्ट है कि यह लौह ५००० सेंमी-१(२ μ) पर या इससे अधिक पर संचरणकता ०.५% है और लगभग २२०० सेमी-१(४.५५ μ) तक लगातार बढकर ९.७२% होती है तदनन्तर १४०० सेमी-१(७ μ) के निकट तक घटकर शून्यमान तक आ जाती है। चित्र सं. २०

यह प्रकाश-स्तंभनाभिद लौह इस अर्थ में नवीन है कि गवाक्ष एवं मणियों (windows and lenses) में प्रयुक्त किये जा सकने वाले इतर ज्ञात अवरक्त-संचारक लौह (infrared transparent materials) यथा LiF २(६ μ तक) CaF २(२ से ८.५ μ तक)ए NaCl (१५ μ तक), आदि, बुरी तरह से आर्द्रता-प्रभाव-ग्रसित होते हैं तथा उन्हें कार्यक्षम रखने के लिये शुष्क वातावरण की आवश्यकता होती है जो कि सर्वथा प्रयोगशालाओं के लिए असंभव सा कार्य है।